६. परिब्रभूव

हे प्रभो ! इस अनर्थ के मार्ग के आक्रमण से आप ही हमें बचा सकते हैं, आप ही हमारे guide—पथप्रदर्शक हैं (परि-भू—toguide) इस धन के संसार के साथ मेरे से किये जाने वाले संग्राम में मुझ अर्जुन के रथ के सारथि कृष्ण आप ही हैं। आप ही वस्तुतः सब प्राणियों-को चलाने वाले-उनको रास्ता दिखलाने वाले हैं। आप ही उन्हें घुमा रहे हैं। (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया)। आप कृपया मेरे शरीर रूपी रथ को तो इस प्रकार रास्ते पर ले चलने की कृपा कीजिये कि "मैं सदैव धन का मालिक बना रहूं"। मैं उसका मालिक होऊँ, और वह मेरा दास । मैं उसका स्वतन्त्रतापूर्वक उत्तम कार्यों में उपयोग करूँ, न कि उसका दास बन कर उसके संचय वृद्धि व सेवन में फंसा रहूं।

संसार में सभी अनर्थ इस स्वामी और दास भाव के उलटने के ही तो परिणाम हैं। मनुष्य यदि स्वामी बना रहे और कभी दास न बन जाय, तो धन उसका कभी उपक्षय=विनाश भी न कर सके। कोई भी व्यक्ति तब इसे अन्याय मार्ग से जोड़ने का प्रयत्न न करे। धर्म का ह्रास व अधर्म का प्राबल्य न हो। परिणामतः संसार में सुख का राज्य हो जाय।

☆

ओ३म्

तृतीय धाम में विचरना

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥

यजुर्वेद ३२.१०

सः, नः	—	वह परमेश्वर, हमें
बन्धुः	—	(कर्मानुसार भिन्न भिन्न योनियों व शरीरों में) बांधने वाला है।
जनिता	—	(हमारे शरीरों का) पैदा करने वाला है
विधाता	—	(विविध साधनों को देकर हमारा) विशेष रूप से धारण करने वाला है
विश्वा, भुवनानि	—	सब, मनुष्यों को
धामानि, वेद	—	शक्तियों को, वह प्राप्त कराने वाला हैं
तृतीये धामन्	—	(यह ब्रह्म ही वह] तृतीय धाम-स्थान है
यत्र, अमृतम्	—	जिसमें, मोक्ष सुख का
आनशानाः	—	अनुभव करते हुए
देवाः	—	विद्वान् लोग
अध्यैरयन्त	—	विचरते हैं

१. बन्धुः

मन्त्र में बतलाया है कि परमेश्वर ने जीव को विविध साधन प्राप्त कराये हैं और साथ ही उसे बतला दिया है कि इन साधनों का उपयोग करके तू ने अन्त में मोक्ष रूप पुरुषार्थ को सिद्ध करना है। साधनों के उपयोग का जीव को स्वातन्त्र्य है। परमेश्वर का पथ-प्रदर्शन तो उसे प्राप्त होता रहेगा, पर उस मार्ग का ठीक २ आक्रमण तो जीव ने अपनी स्वतन्त्रता से ही करना है। अस्तु मन्त्र का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि वह परमेश्वर जीव का "बन्धु" है। प्रकृति के अंश से बने हुए शरीरादि के अन्दर वह जीव को बांधने वाला है। (बध्नातीति बन्धुः) संसार में बन्धु शब्द का प्रयोग हम उन्हीं के लिये तो करते हैं जो कि हमें स्नेह सूत्र में बांधते हैं।

प्रकृति अ-जा है। प्रकृति को परमेश्वर ने पैदा तो नहीं किया, परन्तु प्रकृति पूर्णरूपेण परमेश्वर के अधीन है। और इसीलिये परमेश्वर के अधीनता में जीवों के कर्मानुसार प्रकृति के भिन्न २ अंशों का योग अमुक २ जीव से हुवा करता है। "अजात्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्" (=पैदा न होते हुए भी प्रकृति का जीव के साथ योग परमेश्वर की अधीनता के कारण है) इस सांख्य सूत्र में उल्लिखित भावना स्पष्ट हो गई है। "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (=मेरी अध्यक्षता में ही यह प्रकृति चर व अचर को पैदा किया करती है) इस गीता वाक्य में भी यह भाव अधिक व्यापक रूप में वर्णित हुआ है।

२. जनिता

हमारे साथ भिन्न २ शरीरों का संपर्क करने से ही परमेश्वर हम सब का जनिता=पैदा करने वाला है। वैसे तो हम सब भी अज (=न पैदा होने वाले) हैं अनादि काल से विद्यमान हैं। परन्तु हम सब आत्म-तत्वों को फल-भोग में परमेश्वर के अधीन होने के कारण, विविध शरीरों में जाना होता है। इन विविध शरीरों की प्राप्ति ही जन्म कहलाती है। हम व्यय=वि+अय=विविध शरीरों में जाने वाले आत्मा हैं। इसके विपरीत वह प्रभु 'अ-व्ययात्मा है, उसे किसी प्रकार का शरीर धारण नहीं करना पड़ता। मुक्तावस्था में जीव भी चिरकाल के लिये इसी प्रकार अव्ययात्मा बन जाया करता है। यही ब्रह्म जैसा बनना है। यही तो इस मन्त्र के अन्त में मानव जीवन का अन्तिम ध्येय बतलाया जायगा।

३. विधाता

शरीरों को देने के साथ वह परमेश्वर हमें विविध इन्द्रियादि साधनों को देता है। पञ्च भूतात्मक संसार के ज्ञान व समझने के लिए उसने हमें ५ ज्ञानेन्द्रियां दी हैं। इस संसार में पंचविध कर्मों के करने के लिये ५ कर्मेन्द्रियां दी हैं। और उस संसार से अतीत परब्रह्म के साक्षात्कार के लिये मन की हमारे शरीर में स्थापना की है। इस प्रकार उन्नति करने के योग्य होने के लिये वस्तुतः ही निखिल-साधन-सम्पन्न इस

अद्भुत रचनामय शरीर को हमें देने वाला वह प्रभु हमारा विधाता है।

४. विश्वा भुवनानि धामानि वेद

इन इन्द्रियादि साधनों को प्राप्त कराके ब्रह्माण्ड में कर्मानुसार विविध शरीरों में प्रवेश करने वाले (=विश्वा) मनुष्यों को (=भुवनानि) उस परमेश्वर ने अनेक प्रकार की शक्तियाँ =धामानि) प्राप्त कराई हैं (=वेद Provides)। साधनों के होते हुए भी साधक में यदि शक्ति नहीं तो वह उन साधनों का उपयोग ही कैसे कर सकेगा ? एवं जीव को साधनों के साथ शक्ति प्राप्त कराने वाला भी वह प्रभु है। इस प्रकार हमारे में उस प्रभु की ही शक्ति उसी के दिये हुए साधनों द्वारा काम कर रही है। जीव तो वस्तुतः प्रत्येक कर्म का केवल निमित्तमात्र होता है। अल्पज्ञता के कारण उसे व्यर्थ ही कर्तृत्व का अहंकार हो जाता है। यह अहंकार ही उसके अधःपतन व आवागमन के चक्र में फंसे रहने का कारण है। इस तत्त्व को समझ लेना ही 'परा-विद्या=ज्ञान की चरम सीमा है। उस समय अहंकार के लेश का रहना भी संभव नहीं। यही अहंभाव के उदय का अभाव, मुक्तिकोपनिषद् में, ज्ञान की पराकाष्ठा=ultimate knowledge के रूप में कहा गया है। (अहंभावो दयाभावः ज्ञानस्य परमावधिः)।

परन्तु जब तक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता तब तक उसे कर्तृत्व का अहंकार होता ही है, और उसे उन कर्मों का फल भोगने

के लिए विविध शरीर भी धारण करने ही पड़ते हैं। उसके लिये उचिततम इन शरीरों को प्राप्त कराना उस सर्वज्ञ परमेश्वर के न्याय व शासन में हो रहा है।

५. एक शंका

प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या वह परमेश्वर क्रूर है? जो किसी को लंगड़ा किसी को लूला, किसी को कुबड़ा तथा किसी को नानाविध व्याधियों से आक्रान्त बना देता है। यदि वो दयालु होता तो ऐसा कभी न करता। साथ ही यह प्रश्न इस रूप में भी उपस्थित होता है कि उस परमेश्वर में पक्षपात भी अवश्य है। चूंकि उसने एक जीव को मानवशरीर दे दिया है और दूसरों को पशु-पक्षियों का शरीर, मानवशरीर देकर भी किसी को स्वस्थ व नीरोग बनाया है और किसी को जन्म से ही अस्वस्थ रोगी व दुर्बल पैदा कर दिया है। एक को प्रगाढ़ बुद्धि दी है तो दूसरे को पागल सा ही पैदा कर दिया है। इस प्रकार उस परमेश्वर में क्रूरता व पक्षपात तो प्रतीत होते ही हैं।

इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में इन शब्दों से दिया गया है कि वह परमेश्वर "विश्वा भुवनानि वेद"=सब मनुष्यों को, सब प्राणियों को अच्छी प्रकार जानता है। हम जो कुछ करते हैं वह उससे छिपा नहीं। हम जो कुछ सोचते हैं, वह भी उसे ज्ञात है। वह तो हम सबके अन्दर सुगुप्त रूप से विद्यमान होकर हम सब के अन्तरात्मा के रूप से स्थित है (एको देवः

सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्व व्यापी सर्वभूतान्तरात्मा) कितना ही छिप छिपाकर हम दो मनुष्य यदि कोई मन्त्रणा कर रहे हों, तो उस समय भी वह वरुण=हम सब को श्रेष्ठ बनाने वाला प्रभु तीसरे के रूप में उपस्थित हो हमारे विचारों को सुन रहा होता है (द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजातद्वेद वरुणस्तृतीयः-अथर्व) ।

वह परमेश्वर हम सब की ठीक २ स्थिति को जानता है (धाम=स्थिति, State condition) । उस ज्ञान के कारण वह हमारे लिये हिततम शरीर के निर्माण को भी कर सकता है । जिसके लिये, उस २ स्थिति में, जो २ भी शरीर उपयुक्त तम होता है, प्रभु उसको वही प्राप्त कराते हैं । एवं उस प्रभु में पक्षपात व क्रूरता के दोष की कल्पना असत्य है । इसी बात को वेदान्त के "वैषम्यनैर्घृण्य इति चेन्न कर्मापेक्षत्वात्" इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है । सांख्य ने भी "सहि सर्ववित् (=वह सब के कर्मों व स्थिति को जानता है) सर्वकर्ता (=अतएव सब के लिये योग्यतम प्रकृत्यंशों=शरीरों का वह निर्माण कर देता है)" इस सूत्र के द्वारा उल्लिखित विचार को पुष्ट किया है ।

६. साध्य का निर्देश

इस प्रकार उस दयालु व न्यायकारी प्रभु ने जीव को सब उचित व आवश्यक साधन प्राप्त कराकर उसे उसका लक्ष्य भी मन्त्र के उत्तरार्ध में बता दिया है । वहाँ कहा है कि "इन सब साधनों को प्राप्त कराने वाला वह ब्रह्म है, जिस तृतीयधाम में

देव=विद्वान् लोग अमृत का उपभोग करते हुए स्वच्छन्दता पूर्वक विहरण करते हैं।" प्रकृति प्रथम धाम है, जीव का यह सबसे निचला निवास स्थान है। उसके बाद जीव स्वयं द्वितीय धाम है, यह उसका मध्यम निवासस्थान है। परमेश्वर तृतीय धाम है, यह सर्वोत्कृष्ठ अन्तिम प्राप्यस्थान है। मुण्डकोपनिषद् ने इसी को "सा काष्ठा सा परागतिः" शब्दों से कहा है। बस, इस ब्रह्म को प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम ध्येय है। इसी को प्राप्त करने के लिये उसे ये नाना विध साधन दिये गये हैं।

७. तृतीय धाम

जीव की सबसे निचली स्थिति यह होती है कि वह प्रकृति में रम रहा होता है। प्राकृतिक भोगों को भोगने के अतिरिक्त उसको किसी चीज़ की सुधबुध नहीं होती। वस्तुतः प्रमाद आलस्य व निद्रा प्रधान सा जीवन बिताते हुए वह पशुओं की तरह काम में फँसा होता है। उसको यह भी विचार नहीं होता कि किस कार्य्य से उसकी बदनामी है और किस कार्य से नहीं यह जीव की तामस स्थिति है। "तमसो लक्षणं कामः" मनु के इन शब्दों के अनुसार इस समय वह काममय होता हैं। इस स्थिति से ऊपर उठकर वह राजस स्थिति में आया करता है। अब भी उसके अन्दर विषयों की कामना व लोभ तो पूर्ववत् ही होता है, परन्तु निद्रा की स्थिति से कुछ ऊपर उठ प्रबुद्ध हो जाने के कारण वह कीर्ति का भी इच्छुक होता है। इस इच्छा की

पूर्ति के लिये कई बार वह तपस्या व धर्म के कार्य भी कर रहा होता है। पर वास्तव में उसका ध्येय अर्थ प्राप्ति=अपनी इच्छा की सिद्धि=यश आदि को प्राप्त करना ही होता है। गीता के शब्दों में ये राजस पुरुष धर्म के कार्यों को भी दम्भ पूर्वक किया करते हैं (यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधि पूर्वकम्)।" लोकों में उसका यश हो, उसके प्रभुत्व को वे मानें, उसका वे आदर करें" इन भावनाओं की प्रधानता के कारण कह सकते हैं कि वह प्रकृति से बेशक ऊपर उठ गया, परन्तु वह जीवों में ही खेल रहा है, उनसे ऊपर नहीं उठ पाया। वह इस तत्व को नहीं देखता कि वह स्वयं क्या है, परन्तु उसे यही ध्यान है कि लोग उसे कैसा समझते व कहते हैं। किसी प्रकार अपना अर्थ=मतलब सिद्ध करना यही इसका परम ध्येय होता है। रजसस्त्वर्थ उच्यते" मनु के ये शब्द उसकी राजस स्थिति को स्पष्ट कर रहे हैं।

जब मनुष्य इस स्थिति से भी ऊपर उठता है तब वह सात्विक स्थिति में पहुँचता है। यहाँ उसका लक्ष्य काम व अर्थ नहीं रहते, उसकी चित्तवृत्ति अब धर्म प्रवण होती है। उसकी शारीरिक क्रियाओं में "गुरुओं का आदर, पवित्रता, सरलता ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा" दृष्टिगोचर होती है। उसके मुख से कभी भी किसी के प्रति उद्वेग जनक वाक्य नहीं सुन पड़ता और उसकी वाणी सदा स्वाध्याय के अभ्यास में तत्पर

रहती है। उसके मन में "प्रसाद, सौम्यता, संयम तथा रागद्वेष शून्यता" का निवास होता है। वह तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करता है। इसी लिये उसकी प्रत्येक क्रिया पवित्र होती है। उसकी ज्ञानाग्नि से काम भस्मसात् हो जाता है। संसार को साध्य न समझ वह इसे केवल साधन मात्र समझता है। इसी लिये वह इसमें फंसता नहीं। इसकी तुच्छता व हेयता उसे विस्मृत नहीं होती। वह साध्य को सिद्ध कर इस साधन रूप संसार से ऊपर उठ जाता है। उसको यह फिक्र नहीं कि दुनिया उसे किस दृष्टि से देखती है, और लोग इसके विषय में क्या कहते हैं। वह तो सोचता है कि 'वह स्वयं क्या है। आज वह प्रकृति व जीव लोक से ऊपर उठकर आत्म तत्त्व तक पहुंच गया है। उसको अब काम्य पदार्थों व लोक में यश की वासना नहीं। वह मृत्युमय संसार से ऊपर उठ कर अमृत हो गया है।

८. स्वयम्भु ब्रह्म

आज वस्तुतः वह इस मन्त्र का ऋषि 'स्वयम्भु ब्रह्म' बना है। ब्रह्म को प्राप्त करके स्वयं भी ब्रह्म सा बन गया है (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति—उपनिषद्)। वह परमेश्वर बन्धु है, यह भी अपने को प्राणि मात्र के साथ जोड़ कर सब का बन्धु बना है। उसने अनुभव किया है कि एक परमेश्वर के पुत्र होने से सभी के साथ मेरा सम्बन्ध है। मैं उन सब से अपृथक् हूँ=अयुत हूं। इस तत्त्वज्ञानी में सारे

प्राणी आत्मा (=मैं) ही हो गये हैं (यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः—यजु ४०. ७) इस स्थिति में वह किसी का अहित कर ही कैसे सकता है। परमेश्वर 'जनिता' है यह सब के 'हित का 'उत्पादन करने वाला' बनता है। इसका श्रम सदा लोकहित का जनक होता है। अधिक से अधिक हित कर सकने के उद्देश्य से ही वह अपनी शक्तियों का विकास=जनः=विकास) करता है। उसका सृष्टि विद्या का अध्ययन भी लोकसंग्रह के दृष्टि-कोण से ही होता है। इस प्रकार निजू शक्तियों का विकास करता हुआ वह लोकों का विशेष रूप से पोषण करने वाला (विधाता) बनता है। अपने जीवन को यह यज्ञमय बना देता है। एकमात्र परार्थ ही उसका स्वार्थ हो जाता है। इसी दृष्टिकोण से ही वह शक्ति को प्राप्त करता है कि लोकसंग्रह के लिये वह शक्त बन सके। स्वयं शक्त बन कर सब मनुष्यों को भी (=विश्वा भुवनानि) वह शक्ति प्राप्त कराता है (= धामानि वेद)। स्वयं योग्य बन उनको भी योग्य बनाने का प्रयत्न करता है। और इस प्रकार अकेला मुक्त होने की इच्छा न करके वह औरों को भी मुक्त होने के योग्य बना रहा होता है।

ओ३म्

पाप का विदारण करने वाला="दीर्घ-तमा"

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

यजुर्वेद ४०,-१६

विश्वानि — संसार में प्रविष्ट अर्थात् प्रचलित

वयुनानि — (धन कमाने के उपाय भूत) कर्मों को

विद्वान् — जानते हुए

देव — हे सब व्यवहारों के करने वाले, (और हमें)

अग्ने — आगे ले चलने वाले प्रभो ! (आप)

अस्मान् — हमें

राये — धन के लिये

सुपथा — उत्तम मार्ग से

नय — ले चलिये

अस्मत् — हमारे से

जुहुराणम् — कुटिलता कराने वाले

एनः — पाप को
युयोधि — पृथक् कीजिये
ते — आप के लिये (हम)
भूयिष्ठां — बहुत अधिक
नम उक्तिम्— नमस्कार को
विधेम — करते हैं।

१. विश्वानि

इस संसार में मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति दुःख के परिहार तथा सुख प्राप्त के विचार से ही होती है। सामान्यतः मनुष्य प्राकृतिक भोगों के उपभोग में ही सुख समझता है, और उन की प्राप्ति के साधनभूत धन के उपार्जन में तन्मय हो जाता है। इस अर्थ के उपार्जन के लिये शतशः सहस्रशः उपायों का अवलम्बन करता है। इस समय न जाने सरल व कुटिल कितने मार्ग इस धन को कमाने के लिये यहां लोक में प्रविष्ट= प्रचलित हैं।

२. वयुनानि

मूल में "कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य" ही धन के कमाने वाले वैश्य के स्वाभाविक कर्म थे। परन्तु समय प्रवाह में इनके भी करने के प्रकारों में सैंकड़ों विकृतियां उत्पन्न हो गईं। मनुष्य भिन्न २ विकृत ढंगों से धन के जुटाने में लग गये। यदि एक २ प्रमुख

विकार का संकेत करना हो तो कह सकते हैं कि कृषि में ज़मीन के मालिक बने रहे जो कि कृषि करने वाले हैं। कृषि के क्षेत्र में ज़मींदार तथा कृषक की एक विकट समस्या उठ खड़ी हुई। गोरक्षा में तो इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि उसने गोसंहार का ही रूप धारण कर लिया। मनुष्यों को उत्तम दूध घी मिलना बन्द सा हो गया, और परिणामतः शरीरों में निर्बलता व व्याधियां उत्पन्न हो गईं, वाणिज्य में भी महायन्त्र प्रवर्तन से मनुष्यों का स्थान मशीनरी ने ले लिया। खाली बेकार लोगों की समस्या तो पैदा हुई ही, उसके साथ अधिक उत्पन्न माल की खपत के लिये अन्य देशों को पराधीन करने के विचार उत्पन्न हुए। इन विचारों ने भयंकर युद्धों को जन्म दिया। वाणिज्य में यह भी एक बड़ा भारी विकार उत्पन्न हो गया कि इसका स्वरूप सट्टे (Speculation) का हो गया। दूसरे शब्दों में एक विस्तृत पैमाने पर जुए का खेल खेला जाने लगा। इसी के एक प्रकार विशेष लाटरी का भी ख़ूब चलन हो गया।

३. विद्वान्

इन मार्गों में "कौनसा मार्ग कितना न्याय्य=ठीक है व कितना अन्याय्य है ?" यह बात हे प्रभो आप ही ठीक २ जानते हैं। मनुष्य तो काम में फंसा होने के कारण आवृत-ज्ञान हो जाता है और वह वैसे भी है ही अल्पज्ञ। मनुष्य के लिये

न्याय्यता व अन्याय्यता का निर्णय असम्भव सा होता है। और प्रायः काम में फंस कर, नष्ट-ज्ञान होकर, नितान्त अन्याय्य मार्ग के भी अनौचित्य को न देखकर मनुष्य उसी का अवलम्बन किया करता है। संसार में यहां तक घटनायें देखने को मिलती हैं कि (१) पति पत्नी का एक बड़ी रकम के लिये बीमा करवा देता है और २, ३ वर्ष वाद उसे विष देकर मार डालता है ता . . . यह कम्पनी से एक बड़ी भारी रकम वसूल कर सके (२) ऐसी घटनायें भी प्रतिदिन हो रही है कि एक भाई जायदाद के लोभ से दूसरे भाई को मरवा डालता है। (३) इतिहास के . . . न्ने ऐसी घटनाओं के उल्लेखों से भरे हुए हैं जहां कि पुत्र . . . ा को मार गद्दी को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। (४) ऐसी घटनाओं के अतिरिक्त धोकेवाज़ी ने तो व्यापक ही रूप धारण कर लिया है। पवित्र व असली वस्तु का मिलना दुर्लभ ही नहीं असम्भव-प्राय हो गया है। शुद्ध का स्थान अशुद्ध ने और असली का स्थान नकली ने ले लिया है।

४. देव, अग्ने

ऐसी स्थिति में हे देव=संपूर्ण संसार के व्यवहार के संचालन की शक्ति को देने वाले प्रभो! आप ही वस्तुतः अग्नि हैं। मनुष्य को अवनति के गर्त में गिरने से बचाकर आगे और आगे ले चलने वाले हैं। कामान्ध हुए २ मनुष्य को सन्मार्ग का प्रदर्शन आप ही कर सकते हैं। वास्तव में तो

राग और द्वेष से पूर्णतया अतीत होने के कारण आप ही मार्ग की सत्यता व असत्यता का ठीक २ निर्णय कर सकते हैं। हम सब के हृदयों में अवस्थित हुए २ आप हमें उस सत्य मार्ग पर चलने के लिये प्रेरणा दें।

५. नम उक्तिम्

मन्त्र के अन्त में कहा है कि मैं आपके चरणों में [illegible]मस्तक होता हूं, विनीतभाव से आपके समीप पहुंचता हूं। बार २ आपके प्रति प्रणत होता हूं। संसार में अन्यान्य मार्गों से धन कमाकर, शतशः व्यसनों में फंस, और अन्त में उन भोगों क[illegible] शिकार बनकर, अत्यन्त व्यथित हो, और किसी की शरण[illegible] देख आपके पास पहुंचा हूं। पीड़ित होकर ही चाहे मैं विनीत= सौम्य बना हूं, तथापि आप (भूमिरसि सोम्यानां=) विनीत पुरुषों को असन्मार्ग से हटा सन्मार्ग पर लाने वाले हैं। सो मुझे भी आप "सुपथा"=उत्तम मार्ग से ऐश्वर्य के लिये प्राप्त कराईये। मैं धनार्जन के लिये ऊपर संकेतित असन्मार्गों का कभी अवलम्बन न करूं। स्वर्ण की कान्ति से मेरे सामने से सत्य का स्वरूप छिप न जाय। मेरी आँखें धन के चाकचक्य से चुंधिया न जांय। आपकी अन्तः प्रेरणा से मुझे वह सत्यमार्ग दिखता रहे, जिस पर कि चलते हुए ही मुझे संपत्ति का अर्जन करना चाहिये। धन का आकर्षक स्वरूप मुझे न्याय्यमार्ग से अवकृष्ट न करले।

६. राये

वास्तव में तो 'राये' शब्द के अन्दर ही आपने मुझे उस उपाय का संकेत कर दिया है, जिससे कि मैं असन्मार्ग में जाने से बच सकता हूं। 'रा' धातु का अर्थ देना है। 'धन दान के लिये है' यह आपका उपदेश है। "भूताय त्वा नरातये" प्राणि-मात्र के हित के लिये, न कि अदान के लिये ही धन प्रभु से दिया जाता है। "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा"= त्याग व दान पूर्वक ही हमने इस धन का उपभोग करना है। बस, यदि मैं इस तत्त्व को भी समझ लूं, तब भी, धन का लोभ न रहने से, अन्याय्य मार्ग पर जाने की संभावना हो समाप्त हो जाय।

७. जुहुराणम् एनः

परन्तु इस तत्त्व का समझना मेरे लिये बड़ा कठिन होता है, लोभ व काम मेरे ज्ञान को आवृत किये रहते हैं। यह महापाप्मा काम मुझे अपनी न्याय्यता प्रमाणित करने के लिये बड़ा कुटिल बनाया करता है। मैं कई प्रकार के कुतर्क करके काम की न्याय्यता को सिद्धकर उसमें कूद पड़ता हूं। वस्तुतः यह काम मेरा मित्ररूप शत्रु है, और इसीलिये अत्यन्त भयंकर है। हे प्रभो आपके साहाय्य के बिना मैं इसे कभी भी पराजित नहीं कर सकता। आप ही इसे मेरे से "युयोधि"=पृथक् कीजिये। वास्तव में तो छोटे से छोटा व्यवहार भी आपकी दी हुई शक्ति से ही हो रहा है। यह इतने बड़े शत्रु से युद्ध तो आपकी शक्ति के बिना जीता ही कैसे जा सकता है।

इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये मैं आपके प्रति प्रणत हो अपने को आपके साथ जोड़ता हूं। मैं प्रयत्न करता हू कि अनन्त शक्ति वाले आपके साथ एक तान में होकर मैं भी शक्तिशाली बन जाऊं।

८. दीर्घतमा

तथा जिस प्रकार आपने इस काम रूप महाभयंकर शत्रु को भस्म कर दिया, उसी प्रकार मैं भी आपकी शक्ति से शक्तिशाली बनकर इस कामरूप तमस्=sin=पाप का दीर्घ=विदारण करने वाला बनूं। दीर्घ शब्द दृ विदारणे से बनकर उक्ति क भावना को दे रहा है। ऐ प्रभो! आपकी कृपा से मैं पाप विदारण करके इस मन्त्र का ऋषि दीर्घ-तमा बन सकूं। यजुर्व ५. ३६. में इस मन्त्र का ऋषि "अगस्त्य" दिया गया है। उसकी भावना भी "अगं=पापं, स्त्यायति=संघातयति" अर्थात् पाप को विनष्ट करने वाला ही है। यजुर्वेद ७.४३. में इसका ऋषि "आंगिरस कुत्स" है। उसकी भी भावना यही है कि आंगिरस=प्राणशक्ति संपन्न बन कर वह कुत्स=पाप को कुचल डालने वाला बनता है। कुत्स शब्द 'कुथ हिंसायाम्' धातु से बना है। इस प्रकार 'दीर्घतमा', 'अगस्त्य' व 'आंगिरस कुत्स' तीनों शब्दों में एक ही भावना निहित है। उत्तम मार्ग से धन कमाने वाला ही ऐसा बन सकता है। और यह प्रभु कृपा होने पर ही संभव है।

★

कर्ममय विताने हैं।

क्रिया के रुकते ही हमारा पतन प्रारम्भ हो जाता है। एक पक्षी के पंख जब तक क्रियामय हैं तभी तक वह आकाश में है, उनकी गति रुकते ही वह पृथिवी पर आ गिरता है। मनुष्य कर्म को छोड़ जिस क्षण आलस्य का स्वीकार करता है, उसीक्षण उसका पतन ही क्या अन्त हो जाता है। Anselm के शब्दों में "Idleness is the sepulchre of a living man" अर्थात् आलस्य जीवित मनुष्य की कब्र है। आलस्य से मनुष्य की मानस शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं वह मनुष्य (मनन करने वाला) नहीं रहता। एवं यह स्पष्ट है कि निरन्तर सतत क्रिया ही हमारी सर्वांगीण उन्नति की रक्षा कर सकती है।

५. उन्नति का प्रेरक अग्नि

इस उन्नति की दिशा का इषु=प्रेरक अशनि है। अशनि का अर्थ बिजली करने की परम्परा चली हुई है। पर यहां कोशों के अनुसार अशनि का अर्थ अग्नि ही करना ठीक है। अग्नि की ज्वाला सदैव ऊपर की ओर रहती है। "अधः कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखायाति कदाचिदेव" =अग्नि की ज्वाला का मुख नीचे की ओर भी किया जाय तो भी उसकी ज्वाला ऊपर की ओर ही उठेगी और नीचे न जायेगी। इस प्रकार यह अग्नि अपने उदाहरण से हमें प्रेरणा दे रहा है कि कितनी भी आपत्ति आये, कितनी भी ऊंचनीच में गुज़रना पड़े अपनी ऊर्ध्वगति को मत छोड़ो। स्तुति निन्दा, हानि लाभ, जीवन मरण कुछ भी हमें उन्नति के पथ से विमुख न कर पाये।

दशम मंत्र

ध्रुवा दिशा का उपदेश

ओं ध्रुवादिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः

ध्रुवा दिक्—यह ध्रुवा दिशा स्थिरता का संकेत कर रही है

विष्णुः अधिपतिः—व्यापक उन्नति करने वाला ही इस का अधिपति है

कल्माषग्रीवः—विविध ज्ञान विज्ञानों से विभूषित कण्ठ वाला ही

रक्षिता—इस दिशा का रक्षक है

वीरुधः—फैलने वाली बेलें (अपने उदाहरण से)

इषवः—(हमें अपनी उन्नति को व्यापक आधार पर स्थित करने के लिये) प्रेरणा दे रही हैं।

१. सम विकास (Harmonius Development)

उदीची दिशा से हमसब ने उन्नति का पाठ पढ़ा। 'यह हमारी उन्नति क्षणिक न होकर स्थिर हो' यह पाठ हमें 'ध्रुवा' से पढ़ना है। ध्रुवा के भाव को समझने के लिये पौराणिक कथानक बड़ा सुन्दर संकेत कर रहा है कि 'ध्रुव उत्तानपाद और सुनीति का सन्तान है' अर्थात् जिसने उत्तम नीति से (सुनीति) अपने पांव को फैलाया है (उत्तानपाद)। एकांग उन्नति न कर जिसने सर्वांगीण उन्नति की है वही उत्तानपाद है। परन्तु वह पांव का अधिकाधिक फैलाना नीतिपूर्वक होना चाहिये।

शक्ति से अधिक पांव फैलाने का परिणाम ध्रुवता से विपरीत ही होता है।

शरीर मन व बुद्धि सभी की आनुपातिक उन्नति करनी है, अन्धाधुन्ध नहीं तथा राष्ट्र में भी एक ब्राह्मण ने अधिक से अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना है, एक ही विषय का नहीं। एक क्षत्रिय ने सभी अवयवों की शक्ति को बढ़ाना है, किसी एक आध अंग की शक्ति को नहीं। एक वैश्य ने कृषि गोरक्षा व वाणिज्य सभी धनसंग्रह के उपायों का समन्वय करना है अर्थात् कृषि मुख्य साधन है उस के लिये उत्तम बैल आदियों की प्राप्ति के लिये गोरक्षा भी आवश्यक हो जाती है और उस कृषि से उत्पन्न अन्नादि को यथास्थान पहुँचाकर क्रयविक्रय रूप व्यापार भी करना ही होता है। इस प्रकार करने पर ही ये ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य उत्तानपाद होंगे, और तभी उनके सन्तति रूप ज्ञान (ब्राह्मण) बल (क्षत्रिय) व धन (वैश्य) भी 'ध्रुव' होंगे।

'ध्रुवादिक्' इस ध्रुवता स्थिरता का ही संकेत कर रही है कि 'ध्यान करना, कहीं यह तुम्हारी उन्नति क्षणिक न होजाय'।

२. विष्णु

पौराणिक साहित्य में ध्रुव को ध्रुव बनाने वाला 'विष्णु' है। वही इस दिशा का अधिपति है। व्यापकता ही ध्रुवता का मूलमंत्र है। वेवेष्टि इति विष्णुः (विष्=व्याप्तौ) अर्थात् जो अधिक से अधिक व्यापक है वही विष्णु है। उसी ने स्थिरतापूर्वक सारे ब्रह्माण्ड का धारण किया हुवा है। सम्पूर्ण ज्ञान सम्पूर्ण शक्ति व सम्पूर्ण धन का मालिक वही है। (मल

धारणे) इन सब का धारण करने वाला विष्णु ही है। उसी अधिपति से ब्राह्मण जितना अधिक (व्यापक) ज्ञान प्राप्त करेगा, क्षत्रिय जितनी अधिक शक्ति का संचय करेगा और एक वैश्य जितना अधिक धन का उपार्जन करेगा उतने ही अंश में वह भी ध्रुवा दिशा का अधिपति हो सकेगा।

प्रसंग वश इस पौराणिक कथानक का भी संकेत कर देना अनुचित न होगा कि—विष्णु बलि से वामन बन मांगने गये थे। तीन कदमों में उन्होंने तीनों लोकों को ही माप लिया। और अन्त में उस सर्वस्वदान दे डालने वाले पवित्र दैत्य को उन्होंने पाताल में रखा और उसके द्वार रक्षक के नाते पाताल के अधिपति बने। इस कथानक में बलि शब्द दैत्य का नाम है। इसका अर्थ बलि=sacrifice=त्याग होता है। सो इसका उपदेश यह है कि त्याग की वृत्ति को पाताल तक पहुँचा कर दृढमूल बनाना है तथा त्याग को पाताल में अर्थात् अदृश्य ही रखना है, दान का ढिंढोरा नहीं पीटना। अस्तु,

३. कल्माषग्रीव

इस ध्रुवता का रक्षक 'कल्माषग्रीव' है। इसका अर्थ है "Having a neck of varigated colour' रंग बिरंगी गर्दन वाला। जिसने अपने जीवन को शारीर मानस व आत्मिक सभी उन्नतियों से चित्रित किया है, वह कल्माषग्रीव है। वेद के शब्दों में सभी ज्ञानेन्द्रियों का विकास कर जो पंचौदन=पांचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान रूप भोजन को करने वाला बना है वही कल्माषग्रीव है। ज्ञान का ग्रीवा से सम्बन्ध 'विद्या वह जो कण्ठ' इस कहावत से स्पष्ट ही है। और ज्ञान

ही मनुष्य का मुख्य गुण है उसके अनुकूल उसने पयत्न करना है। इसलिये यहां ध्रुवता का रक्षक कल्माषग्रीव कहा गया है। सभी ज्ञानेन्द्रियों से सभी पदार्थों का तत्वज्ञान प्राप्त करके इसने मृत्यु से बचकर अमर होना है। इसी की उन्नति ध्रुव हो सकती है। सो यह उन्नति की ध्रुवता का रक्षक है। एकांगी उन्नति करने वाले के जीवन में समतुलन न होने से स्थिरता का संभव नहीं।

५. फैली हुई बेलों की प्रेरणा

उन्नति को व्यापक आधार पर स्थिर करने के लिये प्रेरणा देने वाली 'वीरुत् है'। 'लता प्रतानिनी वीरुत्'=खूब फैलने वाली बेल को वीरुत् कहते हैं। वह स्वयं फैलती हुई व्यापक बनती हुई, हमें भी व्यापकता की प्रेरणा दे रही है। मानो वह कह रही है कि व्यापकता के द्वारा ही तुम्हारी उन्नति ध्रुव होगी।

६. त्रिविक्रम

'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः' इत्यादि मन्त्रों में विष्णु के तीन कदमों के रखने का वर्णन है। हम भी तीन कदम रख कर त्रिविक्रम बनने का प्रयत्न करें। शारीरिक उन्नति ही प्रथम कदम है, मानस उन्नति दूसरा, और बौद्धिक विकास तीसरा। इस प्रकार शरीर मन व बुद्धि तीनों ही क्षेत्रों में उन्नति के लिये हमारा क्रमण हो।

ज्ञान के दृष्टिकोण से भी प्रकृति जीव व परमात्म विषयक विविध ज्ञानों को प्राप्त कर हम कल्माषग्रीव बनें। सभी क्षेत्रों में विशेष रूप से रोहित (=वृद्ध) होकर वीरुत् बनें। उन्नति की स्थिरता के लिये ये सभी बातें आवश्यक ही हैं।

ओ३म्

ऊर्ध्वा दिशा का उपदेश

ऊर्ध्वा दिक् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो, रक्षिता वर्षम् इषवः

ऊर्ध्वा दिक् = यह दिशा सर्वोच्च स्थिति का संकेत कर रही है

बृहस्पतिः = (माता पिता व आचार्य कुल में उत्तम विद्या को पाकर) पूर्ण ज्ञानी बना हुवा पुरुष ही

अधिपतिः = इस सर्वोच्च स्थिति का अधिपति बनता है

श्वित्रो, रक्षिता = (ज्ञान से) शुद्ध चरित्र वाला पुरुष, इसका रक्षक है। (और इस स्थिति में)

वर्षम् = (प्रभु-प्राप्ति से अनुभव की जाने वाली आनन्द की वर्षा

इषवः = इस स्थिति में पहुँचने के, और इससे न डिगने के लिये प्रेरणा दे रही है।

१. सर्वोच्च स्थिति

'उन्नति की दिशा में यदि हम स्थिर (ध्रुव) हुए तब हमें ऊर्ध्व स्थिति (सर्वोच्च स्थिति) निश्चित रूप से प्राप्त होगी' यही ध्रुवा के बाद आने वाली ऊर्ध्वा दिक् का संकेत है। निरन्तर ऊपर उठते हुए हम सर्वोच्च स्थिति में क्यों न पहुँचेंगे।

यह सर्वोच्च स्थिति क्या है ? इसे समझाने के लिये मनु ने प्रथम मनुष्यों को सत्व रजस् व तमस् के भेद से तीन भागों में विभक्त किया है। 'सत्वस्य लक्षणं ज्ञानं रजसस्त्वर्थ उच्यते तमसो लक्षणं कामः' इन शब्दों में सार रूप से यह बतलाया

गया है। कि कुछ मनुष्यों की मनो वृत्ति ज्ञान प्रधान होती है वे सात्विक हैं, कईयों का झुकाव धन की ओर होता है वे राजस हैं और जिनकी प्रवृत्ति भोग प्रधान होती है वे तामस होते हैं। इसके बाद मनु ने इन तीन श्रेणियों में भी उत्तम मध्यम निकृष्ट भेद से तीन २ विभाग कर दिये हैं। अब मनुष्यों की ६ श्रेणियां हो गईं। सब से निचली श्रेणी निकृष्ट तामस है और सबसे उत्कृष्ट श्रेणी उत्तम सात्विक पुरुषों की है।

ये उत्तम सात्विक पुरुष वर्तमान शरीर के विलय (अन्त) के बाद मुक्त हो जाते हैं। और अपने मुक्ति के समय की समाप्ति पर सृष्टि के प्रारम्भ में बचे हुए कर्मों के अनुसार, अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होते हैं। इनका उल्लेख मनु ने 'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च' इन शब्दों में किया है। इस उत्तम सात्विक श्रेणी में भी प्रथम स्थान ब्रह्मा का है। यह चतुर्वेदवेत्ता होने से चतुर्मुख रूप में प्रसिद्ध है। सब वेदों का ज्ञाता होने से स्पष्ट ही यह ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त उच्च स्थिति में है। यही मनुष्य की सर्वोच्च स्थिति है।

२. बृहस्पति

यह ब्रह्मा सर्वाधिक ज्ञानी है इसने ब्रह्म=ज्ञान को धारण किया है, मानो यह ज्ञान का ही मूर्तरूप है। ज्ञान का पति होने से इसे 'ब्रह्मणस्पति' या 'बृहस्पति भी' कहते हैं। इसने अन्य देवों को वेद ज्ञान दिया, इस लिये यह देवताओं का गुरु भी कहलाया।

बृहस्पति का शब्दार्थ 'बृहताम् आकाशादीनां पतिः' =बड़े २ आकाशादि लोकों का स्वामी है। पृथिवी आदि के स्वामी बनने

का उपाय मनु ने यह बतलाया है कि 'इमं लोकं मातृभक्त्या पितृ भक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते' २, २३२ अर्थात् मातृभक्ति से इस लोक का विजय होता है पितृभक्ति से मध्यम लोक का और इस प्रकार गुरु सेवा से ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः शतपथ के 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस वाक्य के अनुसार प्रशस्त माता पिता व आचार्य के मिलने पर ही पुरुष ज्ञानी बनता है। स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान देने वाला वह बृहस्पति बन पाता है।

इस ज्ञान से ही वह शनैः २ ऊपर उठकर इस ऊर्ध्वतम स्थिति को प्राप्त करता है। ज्ञानाभाव में यहां पहुँचने का सम्भव नहीं। इसी भावना को यहां मन्त्र में इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'बृहस्पति इस ऊर्ध्वा दिक् का अधिपति है।

३. ज्ञान से पवित्रता

यह ज्ञानाग्नि मनुष्य के सब कर्मों को पवित्र कर देती है 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते' इन शब्दों में गीता ज्ञान को पवित्र करने वालों में सर्वोत्तम कह रही है। ज्ञान मनुष्य को अहंकारशून्य कर देता है। वस्तुतः अज्ञान ही तो अहंकार है। संस्कृत साहित्य में यह तीनों शब्द समान अर्थ रखते हैं। 'अज्ञान, अविद्या, अहंमतिः'। अहंकार के न होने पर फल की कामना नहीं रहती। और काम के अभाव में क्रोध का संभव नहीं, चूंकि 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' = काम से ही तो क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार काम और क्रोध के न रहने पर मनुष्य पवित्र हो जाता है। सारे दोष काम या क्रोध से ही तो पैदा होते हैं।

काम क्रोध शून्य होने पर मनुष्य को किसी भी प्रकार के पाप का संपर्क नहीं होता। यह समझना कठिन तो है पर गीता स्पष्ट शब्दों में कह रही है कि 'यस्य नाहंकृतो भावः बुद्धिर्यस्य न लिप्यते, हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते' अर्थात् अहंकार शून्य तथा निर्लेप होकर (Selfishness की भावना से रहित होकर) यदि वह सारे लोकों का भी संहार कर देता है तो उसे कतल का अपराध नहीं लगता। इसी कारण से ही सारी सृष्टि के प्रलय करने वाले प्रभु में पाप का संपर्क नहीं। और इसी लिये न्याय कारी राजा भी चोरों आदि को दण्ड देता हुआ भी हिंसा का भागी नहीं होता।

४. शुद्ध-चरित्रता

यह ज्ञान ही तो इन्द्रियों मन व हृदय के दोषों को दूर कर हमें शुद्ध व निर्मल बनाता है। 'यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णम्। बृहस्पति स्तन्मे दधातु' इस मन्त्र में चक्षु हृदय व मन के दोषों को दूर करने के लिये बृहस्पति से आराधना की गई है। बृहस्पति ज्ञान की देवता है। ज्ञान ने ही हमें निर्दोष बनाना है।

इस प्रकार निर्दोष बन कर ही हम अपनी ऊर्ध्वस्थिति की रक्षा कर सकते हैं। मन्त्र के शब्दों में 'श्वित्रो रक्षिता'= श्वेत=शुद्ध चरित्र पुरुष ही इस सर्वोच्च स्थिति का रक्षक है। श्वेत रंग सत्व गुण का सूचक है, सो शुद्ध सात्विक बन कर ही मनुष्य अपनी इस अवस्था में बना रह सकता है। गीता में अर्जुन को कृष्ण इस स्थिति में रहने का उपदेश इन्हीं शब्दों में देते हैं 'नित्यसत्वस्थः'।

५. सरलता

शुद्ध सात्विक पुरुष वह है जो इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि यह किसी की हानि का कारण न बन जाय, उसके कारण किसी को दुःख न पहुँचे। यह कभी किसी को धोखा नहीं देता, व्यर्थ में किसी पर अविश्वास नहीं करता। उसकी सरलता का लाभ उठाकर इसे संभवतः कोई धोखा दे जाय पर यह किसी को उसके प्रयत्न के फल से वञ्चित करने का स्वप्न न लेगा।

ऐसे व्यक्तियों को सांसारिक उन्नति में संभवतः कुछ कष्ट हो पर अर्जुन को तो कृष्ण स्पष्ट ही कह देते हैं कि 'निर्योगक्षेमः'=योग क्षेम की बहुत फिक्र न कर। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना ही योग है, और प्राप्त की रक्षा क्षेम कहलाता है। इस कुटिलता पूर्ण संसार में सरलता कई बार इस योगक्षेम के लिये बाधक सिद्ध होती है। पर मानव जीवन का ध्येय इन सांसारिक चीज़ों को जुटाते रहना ही तो नहीं हैं। वस्तुतः 'कुटिलता' से इन चीज़ों को जुटाना' यह तो मृत्यु का मार्ग है 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्' इसके विपरीत सरलता को अपना कर सादा जीवन ही स्वीकार करना मोक्ष का मार्ग है 'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'। सरल पुरुष अपनी उस सर्वोच्च स्थिति को कायम रख पाता है, और कुटिलता को अपना कर गिर जाता है।

६. अक्षय सुख (Impersishable Happiness)

सरलता को अपनाने पर वह सांसारिक काम्य पदार्थों से ऊपर उठता है। बाह्य विषयों के संपर्क से वह अपने को

बहुत कुछ पृथक् कर लेता है। इस स्थिति में अपने अन्दर उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, और इस साक्षात् कार से जो उसे आनन्द प्राप्त होता है वही तो अक्षय सुख है। गीता कहती है कि 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते' (५-२१) अर्थात् सांसारिक चीज़ों के लगाव से ऊपर उठ कर अपने अन्दर जो सुख है उसका अनुभव होता है। इसी अन्दर के अक्षय सुख को परमात्मा से युक्त आत्मावाला पुरुष साक्षात् करता है। सांसारिक सुखों से इस सुख की उपमा नहीं दी जा सकती। सांसारिक सुख क्षणिक व नश्वर हैं, यह सुख अक्षय सुख है। यह पुरुष अपने अन्दर एक अवर्णनीय आनन्द की वर्षा को अनुभव करता है। योग की परिभाषा में यह धर्ममेघ समाधि में होने वाली आनन्द सुधा की वर्षा है। यह वर्षा ही इस मन्त्र में इषु प्रेरक के रूप में कही गई है। यह आनन्द सुधा की वर्षा ही मानो इसे इस सर्वोच्च स्थिति में पहुँचने और उसमें पहुँचकर उससे न गिरने की प्रेरणा दे रही है। 'वर्षम् इषवः'। इस आनंद की गंध से, अब वह सांसारिक काम्य पदार्थों को तुच्छता की दृष्टि से देखता है। यह पदार्थ उसे अब नीचे की ओर नहीं खैंच सकते। वह तो मानव जीवन की उच्चतम स्थित में पहुँच चुका है—वैयक्तिक उन्नति की यही पराकाष्ठा है।

७. अथर्वा

इस स्थिति में पहुँच कर आज वो सचमुच इन मन्त्रों का ऋषि 'अथर्वा, बना है। 'थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः'। थर्व का अर्थ डांवाडोल होना है, 'अ' उसका प्रतिषेध कर रहा

है। आज यह अथर्वा अपनी बुद्धि को ऐसा स्थिर कर पाया कि अब यह विषय वासनाओं से डोलाई नहीं जाती। उसके लिये तो सांसारिक शुभ व अशुभ पदार्थ अब गीता के 'नाभिनन्दति न 'द्वेष्टि' शब्दों के अनुसार राग व द्वेष को पैदा करने में असमर्थ हो गये हैं। यह व्यक्ति स्थित—प्रज्ञ बन गया है।

'प्राची दिक'=आगे बढ़ो के पाठ से लेकर इस ६ मंजिलों वाले सारे रास्ते में जो अथर्व=अडिग बनने का प्रयत्न करेगा, वही इस सर्वोच्च स्थिति तक पहुँच पायेगा। इसी दृष्टिकोण से इन सब मंत्रों का ऋषि अथर्वा कहा गया है।

इस रास्ते पर चलें, और चलते ही चलें रुके नहीं डिगे नहीं तो हम क्योंकर इस स्थिति में न पहुँचेंगे। 'Slow and steady wins the race' इस कहावत के अनुसार कदम २ भी निरन्तर चलते हुवे हम इस मार्ग को अवश्य पार कर ही पायेंगे। वेद कह रहा है कि 'यन् अध्वानं अपवृङ्क्ते चरित्रैः' अर्थात् चलने वाला रास्ते को तय कर ही लेता है।

मानवजीवन का सौन्दर्य इस रास्ते पर चलने वाले 'अथर्वा' बनने में ही है। राष्ट्र को भी ऐसे अथर्वा युवक ही कल्याणमय बना सकते हैं।

—०—

ओ३म्

आदर्श राष्ट्र में दो बातें

तेभ्यो नमो अधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम

एभ्यो अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

तेभ्यः—प्राची आदि दिशाओं से संकेतित पाठ को पढ़ने वालों के लिये नमः—हम आदर बुद्धि करते हैं।

अधिपतिभ्यः—अग्नि आदि अधिपति (Masters) के लिये नमः—हम प्रणत होते हैं।

रक्षितृभ्योनमः—असित आदि रक्षकों के लिये हम नमस्कार करते हैं (और)

एभ्यः इषुभ्यः—इन आदित्य आदि प्रेरकों के लिये भी,

नमः अस्तु—नमस्कार हो।

यः, अस्मान् द्वेष्टि—जो हम आस्तिकों का द्वेष करता है,

च–और (परिणामतः)

यं, वयं, द्विष्मः—जिसके साथ हम द्वेष करते हैं।

तम् —उस दुर्जन को

वः—आप सब राष्ट्राधिकारियों के अधिपति आदि की

जम्भे —नाशक शक्तियों के दध्मः—अधीन करते हैं।

१. तेभ्यो नमः

राष्ट्र के सब व्यक्तियों को चाहिये कि उनके प्रति नमस्कार करें, उनको उचित मान देकर उनका उत्साह बढ़ायें जो कि अपने जीवन का लक्ष्य सचमुच इन दिशाओं के संकेतों के अनुसार बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जिनके जीवन का लक्ष्य 'आगे बढ़ो' है। जो दाक्षिण्य-प्राप्त करके ऐश्वर्यशाली होकर भी प्रतीची दिशा से

संयम का पाठ पढ़कर ऊपर की ओर उठ रहे हैं। जो अपनी इस उन्नति को स्थिर करने के लिये उसे एक व्यापक आधार (broader base) प्राप्त कराने के प्रयत्न में है। और इस प्रयत्न के द्वारा अन्त में जो उच्चतम स्थिति प्राप्त करने को हैं, उन व्यक्तियों का आदर होना ही चाहिये।

जिस राष्ट्र में ऐसे व्यक्तियो का मान होगा उस राष्ट्र का सूत्र ही 'Simple living and high thinking सरल जीवन और उच्च विचार' बन जायगा। इस सूत्र को जीवनसूत्र बनाने पर राष्ट्र को उत्तम नेता व अधिपति प्राप्त होंगे।

२ अधिपतियों को नमस्कार

इन अधिपतियों का भी राष्ट्र के सब व्यक्तियों को सन्मान करना चाहिये। प्रथम अधिपति माता पिता व आचार्य ही हैं। इनका सन्मान जिस राष्ट्र में न होगा, वह राष्ट्र तो कभी उत्थान की ओर जा ही नहीं सकता, वैदिक साहित्य में 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इन शब्दों में इनको देव मानकर इनके प्रति सन्मान की भावना को प्रत्येक स्नातक (Graduate) के अन्दर भरने का यत्न किया जाता है।

३ राष्ट्र के भिन्न २ अधिकारी

दूसरे अधिपति इन्द्र—जितेन्द्रिय और वास्तविक ऐश्वर्य से शोभायमान पुरुष हैं, और राष्ट्र के सूत्रधारों में ये मुख्य सेनापति है। इन सब का भी सम्मान होना ही चाहिये।

इसके बाद वरुण आते हैं जिन्होंने संयम का पाठ पढ़कर अपने को श्रेष्ठ बनाया है। ऐसे ही व्यक्तिराष्ट्र में न्यायाधीश न्यायसचिव के पद पर स्थित होकर विविध अपराधों के होने पर

इन लोकों को पाशों से जकड़ते हैं ये व्यक्ति भी सभी के आदर के पात्र हैं

चौथे अधिपति सोम हैं ये उमा-ज्ञान सहित होने से अत्यन्त नम्र-सौम्य स्वभाव के हैं। राष्ट्र में ये शिक्षासचिव के कार्यभार को सम्भालने के योग्य होते हैं। राष्ट्र का प्रत्येक छात्र इन के प्रति ही अपनी उन्नति के लिये अपनी दृष्टि को गड़ाये रहता है। सभी बच्चों के माता पिता अपने बच्चों की उत्तम शिक्षा के लिये इन्हीं पर निर्भर हो इनका आदर करते हैं।

अगले अधिपति विष्णु हैं, इनका जीवन सूत्र 'व्यापकता' है। इन्होंने किसी एक अंग की उन्नति न कर सभी अंगों के विकास का प्रयत्न किया है। इन्होंने एक विषय का ज्ञान न प्राप्त कर सभी विषयों के विज्ञान से अपने कंठ को विभूषित (चित्रित) किया है। परिणामतः इनका दृष्टिकोण भी बड़ा व्यापक है। ये व्यक्ति राष्ट्र को भी एक व्यापक आधार पर स्थित कर के उच्चतम स्थिति पर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही व्यक्ति अपने राष्ट्र का सभी अन्य राष्ट्रों के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करने वाले Froreign Minister-पर राष्ट्र सचिव हुवा करते हैं। सारा राष्ट्र इस महान् कार्य के लिये उनके प्रति कृतज्ञ होता है। और उनके प्रति नतमस्तक होता है।

४. सभापति

अन्तिम सर्वोच्च अधिपति बृहस्पति हैं। वैदिक साहित्य की परम्परा के अनुसार ये सर्ववेदवित्, सब देवों के भी गुरु सबसे अधिक ज्ञानी हैं। इनका दूसरा नाम ब्रह्मणस्पति व ब्रह्मा भी है। यज्ञ में ब्रह्मा का कार्य स्वयं चुप रह कर, यज्ञ का संचालन होता

इसने किसी से भी कुछ त्रुटि होने पर उसकी ओर उसका ध्यान खींचकर यज्ञ को निर्दोष बनाना है राष्ट्र यज्ञ में यही सभापति हैं ऐसा ही व्यक्ति प्रत्येक जनतन्त्र में President- सभापति होना चाहिये। राष्ट्र में इसका स्थान सर्वोच्च है, होना भी चाहिये चूंकि सर्वाधिक ज्ञान प्राप्त करके, बृहस्पति बन इसने अपने को अधिक से अधिक निर्दोष बनाया है।

५. रक्षितृभ्योनमः

सबसे पहला रक्षिता असित है। ये विषयों से बद्ध न होने के प्रयत्न में लगा हुआ व्यक्ति किस के लिये आदरणीय नहीं। वे पशु पक्षी, जोकि हमें विविध क्षेत्रों में नैपुण्य का उपदेश देते हैं वे भी हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। वायुयान का उपदेश देने वाली चील का हमें धन्यवाद करना ही चाहिये। वैदिक सभ्यता में इनके इन्हीं उपकारों से उऋण होने के लिये ही बलिवैश्वदेव यज्ञ का प्रचलन है। इस यज्ञ में पशु-पक्षियों के लिये भी हम भोजन का अंश देकर ही यज्ञशेष को खाते हैं।

इन पशुपक्षियों से भी अधिक आदर का पात्र तो यह (पृदाकु) पृथ्वी है जो कि अपने आकर्षण के गुण से हमें भी विषयों से इन्द्रियों को आकृष्ट करने का पाठ पढ़ा रही है।

वे सब व्यक्ति भी जो निरन्तर क्रिया के द्वारा सब मलिनताओं को कम्पित कर दूर रख रहे हैं और इस प्रकार उन्नति की ओर जा रहे हैं, हमारे लिये आदरणीय हैं ।

विविध विद्याओं से विभूषित कंठ वाले (Versatile) कल्माषग्रीव' पुरुष आदर पाते ही हैं। और जो ज्ञान से अपने को पवित्रकर 'श्वित्र'—शुद्ध चरित्र हुए हैं, उनके प्रति तो जनता

devoted-भक्ति की भावना वाली होकर उनके चरणों में नतमस्त-कहो अपने को धन्य मानती है। सारे राष्ट्र में वस्तुतः इनका आदर होने पर, पवित्रता का संचार होता है।

६. इषुओं का आदर

इस प्रकार मंत्र की पहिली बात को समाप्त करते हुये उन इषुओं के प्रति भी नमस्कार करते हैं जिन्होंने कि उस २ दिशा के संकेत को जीवन में अनूदित (translated) करने की हमें क्रियात्मक प्रेरणा दी। आदित्य (सूर्य) हमें निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है और हमारे पितृवर्ग योग्य बनने के लिये हमें उत्साहित कर रहे हैं। अन्न हमें उपदेश दे रहा है कि मेरा सदा सेवन करने के योग्य रहने के लिये तुम्हें संयमी जीवन वाला होना होगा। इसके बाद अशनि (-अग्नि) की ऊंची जाती हुई लपट हमें भी ऊंचा उठने के लिये कह रही है, वीरुत् (-खूब फैली हुई बेल) हमें भी अपनी उन्नति के आधार खूब विस्तृत करने का उपदेश दे रही है। तभी हम उस उच्चतम स्थिति में पहुँचकर 'अद्भुत आनन्द की वर्षा' का अनुभव करेंगे और उस वर्षा से वहीं स्थिर होने की प्रेरणा को प्राप्त करेंगे।

इन सब प्रेरकों के प्रति कृतज्ञता के साथ पहिली बात तो पूरी होती है। पर राष्ट्र की उन्नति के लिये एक दूसरी बात भी आवश्यक है। और वह यह कि राष्ट्र में सभी व्यक्ति अच्छे ही अच्छे होंगे और कोई भी बुरा न होगा' यह धारणा इच्छामात्र ही होगी, वास्तविक नहीं। 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः' वेद के ये शब्द राजा को उसके कर्तव्य का उपदेश देते हुए कहते हैं कि तू राष्ट्र में 'आर्य और दस्यु' -सज्जन और दुर्जन दोनों

को विभक्त रूप सेजानने वाला बन। ए यह स्पष्ट है कि राष्ट्र में दुर्जनों का असंभव नहीं है। 'इन दुर्जनों का क्या स्वरूप है और उनके साथ कैसे वर्तना' यही दूसरी आवश्यक बात मन्त्र में कही गई है।

७. दुर्जनों का लक्षण

दुर्जन कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र इन शब्दों में देता है कि जो हम सबके साथ द्वेष करता है, और जिसके साथ हम सब द्वेष करते हैं' । इस लक्षण का प्रथम अंश है जो अकेला हम सब के साथ द्वेष करता है। इस वाक्य में 'अस्मान' शब्द का प्रयोग है। 'अस्-मान्' शब्द परमेश्वर के अस्तित्व (existence) में विश्वास रखने वालों का वाचक है। इन्हें ही वैदिक साहित्य में 'आस्तिक बुद्धि वाला' कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति राष्ट्र में ऐसा है जोकि अपने रजो मिश्रित तमस स्वभव के कारण अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये इनके प्रति द्वेष–अप्रीति से वर्तता है, तो यह आवश्यक ही हो जाता है कि 'यंच वयं द्विष्मः' समाज के सब व्यक्ति इसे समाज हित के लिये अवाञ्छनीय समझें।

यहां 'वयं' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। यह 'वेञ् तन्तु संताने' से बना है, और यह उन पुरुषों का संकेत करता हैं जो कि राष्ट्र की उन्नत्ति के तन्तु को विस्तृत करने में लगे हैं। इनके विपरीत वह दुर्जन कदम २ पर उस तन्तु को तोड़ना चाहता है। इसीलिये तो इसे दस्यु (-one who destroys) नाम दिया जाता है।

ए संक्षेप से दुर्जन वह है जोकि—

(क) अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये सज्जनों का विरोध करता है, तथा

(ख) राष्ट्र की उन्नति के लिये किये जाते कार्यों में विघातक होने से समाज के लिये अवाञ्छनीय हो जाता है।

९ दुर्जनों से कैसे वर्तना

मन्त्र में कहते हैं कि इस अवाञ्छनीय व्यक्ति को ऊपर वर्णित अधिपति आदि के जबड़ों में रखते हैं। अर्थात् उनकी उन नाशक शक्तियों के प्रति अर्पित करते हैं जो कि अपवित्रता-मलिनता व दोषों को नष्ट करके मनुष्य को दैत्य से देव बनाने वाली हैं। जम्भ का अर्थ कोश में इस प्रकार दिया है कि 'one who devours a demon' --जो दैत्य को निगल जाता है। इन अधिपतियों के सम्मुख पहुँच इस ईर्ष्यालु व्यक्ति की ईर्ष्या समाप्त हो जाती है। वे इसे सामदानादि सभी उपायों से सुधारने का प्रयत्न करते हैं। न सुधरने योग्य स्थिति में उसे वध दण्ड से भी समाप्त कर देते हैं। और इस प्रकार अवाञ्छनीय व्यक्तियों से रहित होकर समाज ठीक रूप में विकसित होता चलता है, तथा एक ऐसे आदर्श राष्ट्र का निर्माण हो जाता है जिसमें कि अधिक स अधिक 'सत्य शिव और सुन्दरता' को स्थापित हुआ देखा जा सकता है।

१० कानून को अपने हाथ में लेना

'आपके नाशक शक्ति के अधीन करते हैं' इस वाक्य से यह भी स्पष्ट है कि किसी को भी यह अधिकार नहीं कि कानून को अपने हाथ में लेकर दुर्जनों को स्वयं ही दण्ड देने लग जाय। जो हमारी दृष्टि में दुर्जन है हमें उसे राष्ट्र के अधिकारियों के

ही सुपुर्द करने का अधिकार है न कि दण्ड देने का। दंड देने का काम शासकबर्ग का है। महाभारत में वर्णित 'शंख लिखित की कथा भी इस बात को स्पष्ट कर रही है। लिखित को शंख स्वयं दंड नही देते, पर राजा से दण्डित कराते हैं। शासन व्यवस्था की उत्तमता के लिये इस नियम का पालन नितान्त आवश्यक है।

ओ३म्

ब्रह्म का ब्रह्मदर्शन

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्य मगन्म ज्योति रुत्तमम् ॥

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

वयम् = हम सब उत् = ऊपर उठते हुए

तमसः, परि = पृथिवी पृष्ठ से, परे

उत्तरं, स्वः, पश्यन्तः = उत्कृष्ट, देदीप्यमान अन्तरिक्ष लोक को देखते हुए देवत्रा, देवम् = देवों में, देव

उत्तमं ज्योतिः सूर्यम् = सर्वाधिक ज्योतिर्मय सूर्य को (द्युलोक को)

अगन्म = प्राप्त हों। तथा

उ, उत्, त्यं = और, ऊपर उठकर, उस

जातवेदसम् = प्रत्येक पदार्थ में वर्तमान

देवम् = स्वयं देदीप्यमान

सूर्यम् = सर्वप्रेरक परमेश्वर को (सुवति = प्रेरयति)
केतवः = ज्ञान के अवतार रूप विद्वान् अर्थात् खूब ज्ञानी
विश्वाय दृशे = पूर्ण ब्रह्माण्ड के ज्ञान के लिये
वहन्ति = अपने हृदयों में धारण करते हैं ।

१. वानप्रस्थ

पिछले मन्त्रों में वर्णित आदर्श राष्ट्र का उत्तम नागरिक रह चुकने के बाद, मनुष्य अब वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्' इस मनु वाक्य के अनुसार इसका प्रत्येक क्षण स्वाध्याय = Introspection में बीतता है । इस स्वाध्याय के लिये सहायक ग्रन्थों का पठन ही उसकी hobby = उपकार्य है । उसका एकमात्र लक्ष्य आत्मदर्शन हो गया है । वह क्रमशः पृथिवी लोक से ऊपर उठकर देदीप्यमान अन्तरिक्ष लोक में पहुँचता है । और वहां से भी ऊपर उठता हुवा चन्द्रादि देवों के भी देव = प्रकाशक सूर्य के लोक द्युलोक में आया है । 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहम्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्' इस अथर्व मन्त्र को अपना ध्येय बनाकर वह ऊपर और ऊपर उठने का प्रयत्न करता है । इसके इस कार्य में धर्म उसका धारक = सहायक होता है ।

सबसे पूर्व (अघमर्षण मन्त्र तक) वह अपनी इन्द्रियों को पवित्र बना निष्पाप बनने का प्रयत्न करता है । उसके अनन्तर (मनसा परिक्रमा मन्त्रों में) सूर्यादि से प्रेरणा लेकर वह ऊंचे और ऊंचे उठते हुवा अपनी ऊर्ध्वस्थिति को सिद्ध करता है। जितना २ पुण्य का अंश उसमें बढ़ता जाता है और पापांश

क्षीण होता जाता है उतना २ ही वह ऊपर उठता है । पार्थिव लोकों से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष लोकों में पहुँचता है । उनसे भी ऊपर उठकर वह द्युलोक में आता है। दूसरे शब्दों में तम से उठकर वह रजस् में पहुँचता है, और रजस् से भी ऊपर उठकर सत्व में आता है । और यह वानप्रस्थी प्रयत्न करता है कि 'नित्य-सत्वस्थ' बना रहे' सदैव इस सत्त्व गुण में ही इसकी स्थिति हो।

'संत्यज्य ग्राम्यमाहारम्' 'शाकमूलफलेन वा' इस मनु वाक्य के अनुसार ग्राम्य आहार को छोड़कर शाक-मूल फलों से अपनी वृत्ति को करता हुवा वह भोजन की चिन्ता नहीं रखता 'निर्योग क्षेम:' इन गीता शब्दों में वह योग क्षेम (=सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति व उनके रक्षण की चिन्ता से ऊपर उठ गया है। 'आत्मवान्' = आत्मतत्व का दर्शन कर उसे अपनाना ही उसका ध्येय है।

२.'वयम्' नकि 'अहम्' (हमसब नकि मैं अकेला)

इस नित्यसत्वस्थ आत्मवान् व्यक्ति की यह भी विशेषता होती है कि यह इस ऊंचे ध्येय की ओर केवल स्वयं जाने में ही सन्तोष का अनुभव नहीं कर लेता और इस प्रकार औरों को भी इस लक्ष्य की ओर ले चलने के लिये प्रेरणा करता है। केवल प्रेरणा ही कर औरों को ज्ञान देना ही उसके जीवन का कार्य हो जाता है।

उसको यह विचार भी रुचता नहीं कि मैं अकेला ही मुक्त हो जाऊं। आत्मदर्शन के अद्भुत आनन्द को अकेला पाने का स्वप्न लेना भी तो स्वार्थमय है। इसलिये वह औरों को भी इस

रूप में प्रेरणा देता है कि:-(वयम्=) हम, (उत्=) ऊपर उठते हुए (तमस: परि) इस अन्धकारमय पृथिवी पृष्ठ से परे (उत्तरं स्व:) उत्कृष्ट देदीप्यमान अन्तरिक्ष लोक को (पश्यन्त:) देखते हुए (देवत्रा देवम्) देवों में देव, ज्योतिर्मय पदार्थों में सर्वाधिक ज्योतिर्मय (उत्तमं ज्योति: सूर्यम्) उत्कृष्ट ज्योति सूर्य को (अगन्म) प्राप्त हों।

३. तमसः, परि

ऊपर और ऊपर उठना तो मनुष्य मात्र का लक्ष्य होना ही वंचाहिये। 'पृष्ठात् पृथिव्या:' इसमन्त्र में मान जीवन का उद्देश्य ही पृथिवी से अन्तरिक्ष में पहुँचना, और वहां से द्युलोक में पहुँचकर प्रभु की गोद में पहुँचना बतलाया गया है। यहां भी 'तमस: परि'='पृथिवी से परे' ये शब्द ऊपर उठने का उपदेश दे रहे हैं। हमें पृथिवी पर ही बैठे नहीं रह जाना। पृथिवी पर बैठे रह जाने का अभिप्राय यहां तमस् शब्द का प्रयोग स्पष्ट कर रहा है। तमस अन्धकार का नाम है। एक व्यक्ति जो इस पृथिवी व शरीर को ही अपनी सारी चिन्ता का केन्द्र बना लेता है, इसे ही मोटा करते रहना या सजाते रहना या इसी के ही भोग जुटाते रहना जिसका लक्ष्य होता है वह अभी इस पर्थिव लोक में ही घूम रहा है। उसका ज्ञान से सम्बन्ध न के करीब है। इस लिये वह अभी वस्तुत: मनुष्य के आकार का होते हुए भी पशु जैसा ही है। यह ठीक है कि पशु की तरह शरीर को स्वस्थ बनाना भी आवश्यक हैं, परन्तु इतने से ही अपने को कृतकृत्य समझ लेना ठीक नहीं। 'परि' परे चलना है यहीं नही रुक जाना।

४. स्वः पश्यन्तः

पृथिवी लोक से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष लोक में पहुँचना चाहिये। पृथिवी शब्द शरीर का संकेत कर रहा है तो अन्तरिक्ष हृदयान्तरिक्ष का वाचक है। मनुष्य को अपने हृदय को प्रतिदिन प्रतिक्षण देखने का प्रयत्न करना चाहिये। सामान्य भाषा में इसे ही हृदय को टटोलना कहते हैं। हम देखें कि हमारे हृदय में क्रोध द्वेष आदि की वासनायें तो घर नहीं करती जातीं इस आत्मनिरीक्षण से हम अपने हृदयान्तरिक्ष को दोषों से शून्य ज्योतिर्मय बनाने का प्रयत्न करें। शरीर के स्वास्थ्य के साथ मानस स्वास्थ्य को भी प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

परन्तु 'पश्यन्तः' = देखते हुए' यह शब्द यहां भी न रुक कर, आगे बढ़ने का संकेत कर रहा है। अन्तरिक्ष लोक में भी रुक नहीं जाना, उससे भी ऊपर उठना है। अर्थात् शरीर और मन के स्वास्थ्य से भी अपने को अधूरा समझ कर अभी और पूर्णता के लिये प्रयत्नशील होना है।

५. स्वर्यम् अगन्म

अन्तरिक्ष से ऊपर उठ कर द्युलोक में पहुँचना है। यह द्युलोक ही सूर्य का स्थान है। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। स्वस्थ शरीर व निर्मल हृदय के साथ उज्ज्वल ज्ञान की भी आवश्यकता है। इस ज्ञान के जगमगाते द्युलोक में पहुँचे बिना विश्राम कहां? वस्तुतः विश्राम तो द्युलोक में पहुँचने पर भी नहीं है। यहां भी सत्व = ज्ञान (सत्वस्य लक्षणं ज्ञानम्) में स्थिति को स्थिर रखने के लिये प्रयत्न आवश्यक ही है।

६. तीन क़दम

एवम् , शरीर मन व मस्तिष्क का विकास ये तीन कदम प्रत्येक जीव ने रखने ही हैं। यह वानप्रस्थी सांसारिक बंधनों से कुछ मुक्त सा होकर विशेष प्रयत्न पूर्वक इन कदमों को (=क्रमों को) रखता है । 'त्रीणि पदा विचक्रमे' इस वेदवाक्य के अनुसार तीन कदमों को रखना उसका जीवनसूत्र बन जाता है ।

७.सर्वभूत अन्तरात्मा

इस प्रकार जब हम शरीर, मन, व बुद्धि के स्वास्थ्य को सिद्ध कर नित्य सत्वस्थ बनेंगे तब हम भी उन विद्वानों में परिगणित होंगे जो 'केतवः' =ज्ञानावतारवि द्वान् 'त्यं जातवेदसम्' =उस प्रत्येक पदार्थ में वर्तमान सर्वभूतान्तरात्मा 'देवं= स्वयं देदीप्यमान 'सूर्यम्' सर्व प्रेरक परमेश्वर को 'विश्वाय दृशे' संपूर्ण ब्रह्माण्ड के ज्ञान के लिये 'वहन्ति' =धारण करते हैं ।

नित्यसत्वस्थ =निर्मल बुद्धि व अन्तःकरण वाले होने पर ही हमारे हृदयों में उसका प्रकाश होगा। वह परमेश्वर सर्व व्यापक है, प्राणिमात्र के अन्दर उसकी सत्ता है। जातवेदस =जाते जाते विद्यते =अर्थात् जो भी होता है, उसके अन्दर वह है। प्रत्येक होने वाले पदार्थ को वह जानता है (जातं २ वेत्ति)। हम सबके अन्दर रहता हुवा हमारे प्रत्येक विचार को भी वह जानने वाला है।

इस प्रकार हमारे अन्दर होने से वह हमारे समीप से समीप है। पर ऊपर कहे गये तीन कदमों को न रखने वाले इस प्रभु को जान नहीं पाते। अज्ञात होने से प्रभु उनसे दूर है। अपने शरीर मन व बुद्धि को स्वस्थ बना कर आज हम उसे

अन्तरात्मा के रूप में देख पाये हैं।

८. देव तथा सूर्य

यह हम सबका अन्तरात्मा जातवेदस तो है ही, हमारे प्रत्येक उत्पन्न होने वाले विचार को तो जानता ही है, साथ ही वह देव है। वह प्रकाशमय है, (देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा)। वेद के शब्दों में वह 'अदित्यवर्ण' सूर्य के समान वर्ण वाला है 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' अथर्व के ये शब्द उस प्रभु की ज्योति को सूर्य के समान कह रहे हैं। गीता में तो कहा है कि यदि द्युलोक में हजारों सूर्य उदित होजांय तो संभवतः उस प्रभु की ज्योति का आभास दे पांय।

इतना प्रबल प्रकाश हमार अन्तः करणों में निवास कर रहा है, परंतु उन अन्तः करणों के रागद्वेष आदि से मलिन होने के कारण वह दिखता नहीं। ज्योंही रजोगुण से ऊपर उठकर हम सत्व गुण में अवस्थित होते हैं, त्योंही यह मलिन आवरण दूर हो जाता है और वह ईश ज्योति हमार हृदय को जगमग कर देती है।

उस प्रकाश में हमें जीवन का मार्ग बड़ा स्पष्ट दीखता है। हमें कर्तव्याकर्तव्य का, सत्यासत्य का विवेक हो जाता है। अन्दर बैठा हुवा वह प्रभु हमारे कर्तव्य की ठीक प्रेरणा देता है - असली बात तो यह है कि अब हमारे इस शरीर रथ का संचालक ही वह प्रभु होगया है। हम अर्जुन बने हैं तो वह प्रभु कृष्ण के रूप में हमार रथ का सारथि बना है।

९. विश्वाय दृशे

इस प्रभु की ज्योति ने हमें 'कर्तव्याकर्तव्य का ही ज्ञान दिया

हो' यह बात नहीं। वस्तुत: इस आत्म ज्योति के दर्शन होने पर सभी ब्रह्माण्ड के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। उपनिषद् में प्रश्न उठाया गया है कि 'कस्मिन् ह खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्' अर्थात् किसके ज्ञात हो जाने पर यह सारा ब्रह्माण्ड ज्ञात हो जाता है इस प्रश्न के उत्तर में इसी प्रश्न में वर्णित 'जात-वेदस, देव, सूर्य' का उल्लेख हुआ है कि उस प्रभु के ज्ञात होने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं बच जाता। यह प्रभु 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' ज्ञानमय है जानने योग्य है। प्रत्येक ज्ञान के साथ अन्ततोगत्वा जाना जाता है। यह प्रभु ही वह वस्तु है 'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज ज्ञातव्यमवशिष्यते'--जिसके ज्ञात हो जाने पर कुछ भी और ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता।

१०. अन्तिम स्थिति स्थान (Terminus)

इस प्रभु को जानने वाला यह ज्ञानी द्युलोक से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में पहुँच गया है। अधिक और अधिक ज्योतिर्मय लोकों को प्राप्त करता हुआ आज वह अन्तिम लोक पर पहुँच गया है। 'सा काष्ठा सा परागतिः' यही चरम सीमा है यही शरण है। उपनिषद् के शब्दों में यही 'श्रेष्ठ आलम्बन है।

इस ऊंचे से ऊंचे ज्ञान को प्राप्त करके यह ब्रह्मा-सब विद्याओं का ज्ञाता बन गया है। यह ब्रह्मा ही इन दोनों प्रस्तुत मंत्रों का ऋषि है। यह उस सर्वव्यापक विष्णु में स्थित हुआ है। पौराणिक साहित्य के अनुसार विष्णु के नाभिकमल से मानों यह प्रकट हो रहा है।

'इस स्थान पर स्थित हो वह क्या अनुभव लेता है' इसे अगले मन्त्र में देखिये—

चतुर्दश मन्त्र

अद्भुत दृश्य

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम् सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

देवानाम्—(अग्नि चन्द्र सूर्य आदि) देवों का
चित्रम्—अद्भुत, अनीकम् = बल
उद्अगात्—(इसी प्रत्यक्ष दृश्यमान ब्रह्म से) उदित हुवा है
मित्रस्य—सूर्य का वरुणस्य—चन्द्र का, और
अग्नेः—अग्नि का चक्षुः—प्रकाशक (यह ब्रह्म ही है) (इसने)
द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्—द्युलोक पृथिवी लोक व अंतरिक्षलोक को
आप्राः—समंतात् व्याप्त किया हुवा है।
सूर्यः—यह सब का प्रेरक गति देने वाला, उत्पादक ब्रह्म ही
जगतः—तस्थुषः च = जंगम तथा स्थावर जगत् का
आत्मा—बीज व केन्द्र है और अंतर्यामी है।

१. प्रथम अनुभव

उस ब्रह्म लोक में पहुँचकर ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ वह अनुभव करता है कि 'देवानां' लोकत्रयी में स्थित सभी देवों का 'चित्रं अनीकम'-अद्भुत बल 'उदगात्' यहीं से उदित हुवा

है। गीता के शब्दों मे 'बलं बलवतामस्मि' 'तेजस्तेजस्विनामहम्' 'नक्षत्राणामहं शशी' 'ज्योतिषां रविरंशुमान्' इन शब्दों के अनुसार अग्नि चन्द्र व सूर्य में उसी की विभूति दृष्टि गोचर हो रही है।

आज यह ब्रह्म का साक्षात् कर्ता उपनिषद् के इस वाक्य का भी साक्षात् करता है कि 'तमेवभान्तम् अनुभाति सर्वम् , तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' अर्थात् उस प्रभु की ज्योति से ही सब ज्योतिर्मय पदार्थ भासमान हो रहे हैं। वह परमेश्वर ही 'मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः'-मित्र वरुण और अग्नि का 'चक्षुः'- प्रकाशक है। यहां मित्र शब्द सूर्य का वाचक संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त होता ही है। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि को कह रहा है। वरुण-अप्पति जलों की अधि देवता है। यहां वरुण शब्द से चन्द्र को कहा गया है चन्द्रमा भी अब्जाः--(अप्+ज) जल से उत्पन्न माना गया है। एवं वरुण जलाधिदेवता है, और चंद्र जल से उत्पन्न इस प्रकार पिता पुत्र में अभेद के उपचार से वरुण शब्द चन्द्र के लिये प्रयुक्त हो जाता है। मन्त्र कहता है कि अग्नि चन्द्र व सूर्य इन सब में जो भी ज्योति दीखती है उस सब ज्योति का आदिस्रोत वह प्रभु है। केनोपनिषद् के 'वाचो ह वाचः मनसो-मनः 'चक्षुषश्चक्षुः' इन वाक्यों के अनुसार अध्यात्म में वाणी का वाणी मन का मन और आंख की आंख वह आत्मतत्वही है। इसी प्रकार आधिदैविक जगत् में भी अग्नि का अग्नि चन्द्रमा का चन्द्रमा और सूर्य का सूर्य वह परमात्मा ही है। इन सब को ज्योति देने वाला वही है।

२. सर्व व्यापकता की कल्पना

इस प्रकार अनुभव लेते हुए वह ब्रह्मद्रष्टा उस ब्रह्म की सत्ता को संसार के कण २ में कार्य करता हुवा देखने लगता है। सूर्य की चमक चन्द्र की ज्योति, मन की अद्भुत शक्ति, शरीर में चेतना का निवास, अग्नि की दाहक शक्ति, समुद्र की गम्भीरता, हिमालय की उच्चता, शरीर के अन्दर उत्पन्न होने वाली वीर्यशक्ति, संसार में अद्भुत जलजन्तु स्थल चर प्राणी व आकाश में उड़न वाले पक्षी, वसन्त ऋतु में पुष्पों का विकास ये सभी की सभी वस्तुएं उस परमेश्वर से ही श्री व शक्ति को प्राप्त करती हुई उसे प्रतीत होती हैं। 'न तदस्ति विना यत्स्यात् मया भूतं चराचरम्' इन गीता के शब्दों के अनुसार वह अनुभव करता है कि वह प्रभु तो चर अचर सभी में मौजूद हैं। द्युलोक पृथ्वीलोक व अन्तरिक्षलोक सभी को उसने 'आ-प्रा' समन्तात् व्याप्त किया हुआ है।

३. वह सभी का आत्मा हैं

वह सूर्य - सभी को गति देने वाला ब्रह्म जगत तस्थुषः च, स्थावर व जंगम संसार का आत्मा essence --बीज है। आत्मा के बिना जिस प्रकार यह शरीर मृतक होता है, यह गल सड़ जाता है और श्री विहीन हो जाता है, उसी प्रकार जलों में रस शशि सूर्य में प्रभा, आकाश में शब्द, मनुष्यों में पौरुष, पृथ्वी में पुण्य गन्ध, अग्नि में तेजस्विता, सर्व प्राणियों में जीवन, तपस्वियों में तप, बुद्धिमानों में बुद्धि, तेजस्वियों में तेज, बलवानों में द्वेष शून्य यशस्वीबल, और प्राणियों में धर्मानुकूल काम, ये सब तभी तक हैं जब तक कि उन में प्रभु की शक्ति काम कर रही है।

जिस मनुष्य के हृदय में परमेश्वर का वास है उसी में सात्विक भावनाओं की उत्पत्ति होती है परमेश्वर को भूलते ही ये भावनायें भी लुप्त हो जाती हैं। जहां २ जो ३ उत्तमता है वह सब इस प्रभु के वास के कारण। गीता क शब्दों में 'यद् यद् विभूतिमत सत्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंशसंभवम्' प्रत्येक पदार्थ की विभूति श्री व ऊर्जित (-शक्ति) का कारण उसी तेजोमय ब्रह्म का तेज है। 'यच्चापि सर्व भूतानां बीज तदहमर्जुन'-सब भूतों का बीज वह प्रभु ही है। फल का केन्द्र बीज है उसी प्रकार पदार्थ मात्र का केन्द्र प्रभु है।

४. कुत्स आंगिरस

एवं इस प्रभु क उपासक को अनुभव होता है कि (१) वह प्रभु ही सब देवों की शक्ति का स्रोत है (२) वही सभी का प्रकाशक है (३) वह सर्व व्यापक है और (४) सब भूतों की अन्तरात्मा है। ऐसा अनुभव करता हुवा वह उस तेजोमय से एक तान में होने क कारण उसकी शक्ति को अपने में प्रवाहित होता देखता हैं। उसे अपने अन्दर शक्ति का प्रवाह उमड़ता प्रतीत होता है। इसीसे वह अनुभव करता हैं कि उस प्रभु की शक्ति स शक्ति सम्पन्न होकर वह आंगिरस full of vitality

इस वीरता क कारण वह अपने आनंतर व बाह्य सभी शत्रुओं का पराभव करने में योग्य हुवा हैं अब उस कामादि वासनाओं को जीतने का अद्भुत बल प्राप्त हो गया है और उन सब को वह कुचलने वाला इस मंत्र का ऋषि 'कुत्स बना है।

कामादि वासनओं को कुचल कर, पूर्ण पवित्र बन कर यह एकदम प्रभु के सामने पहुँचने के योग्य हो गय है। यह अपने

सामने इस प्रभु को देखता है, और क्या कह उठता है; यह अगले मंत्र में देखिये ।—

पंचदश मंत्र

प्रभु के सामने

तच्चक्षुर् देवहितं पुरस्ताच् छुक्रम् उच्चरत् । पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम् शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतम् अदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात् ।

तत्, चक्षुः—वह, सब देवों का प्रकाशक
देवहितम्—सब देवों में आत्मरूप से रहा हुवा
शुक्रम्—शुद्ध ज्योतिरूप प्रभु
पुरस्तात्, उच्चरत्—सामने, प्रकट हुवा है ।
पश्येम शरदः शतम्—सौ के सौ वर्ष हम इसे देखते रहें
जीवेम—इसे अपने जीवन में अनूदित करने का यत्न करें
शृणुयाम—आजीवन इसी की चर्चा को सुनें, (और) सुनायें
अदीनाः स्याम शरदः शतम्—इसके सम्पर्क में आजीवन ऐश्वर्य का अनुभव करें
भूयश्च शरदः शतात्—सौ वर्ष से ऊपर भी इसी दर्शन, जीवन, श्रवण, प्रवचन व अदीनता में निवास करें ।

१. दध्यङ् आथर्वण

पिछले मन्त्र में उपासक ने ब्रह्मलोक में प्रवेश करते समय तीन अनुभव लिये हैं (१) वह प्रभु ही सभी देवों की शक्ति का स्रोत है, (२) वह सर्वव्यापक है, (३) और वह चर अचर = जङ्गम स्थावर सारे जगत् का आत्मा है।

इस अद्भुत शक्ति के स्रोत को देखकर उसका ध्यान उस ब्रह्म में स्थिर हो गया है। इसी से उसका नाम 'दध्यङ्' हुवा है। और अब उसकी चित्तवृत्ति सांसारिक विषयों में डांवांडोल नहीं होती इसी से उसे 'आथर्वण' नाम मिला है। आथर्वण = डांवांडोल न होने वाला। यह गीता के शब्दों में 'स्थित प्रज्ञ' बना है, 'अ- विकल्प' योग इसे प्राप्त हुवा है।

२. ब्रह्मद्रष्टा का प्रथम कथन

यह ब्रह्मद्रष्टा ब्रह्म को सामने देखता हुवा कह उठता है कि:- तत् = वह 'चक्षुः' सब देवों का प्रकाशक, सब देवों की शक्ति का स्रोत, 'देवहितं' = सब देवों के अन्दर आत्मरूप से वर्तमान शुक्रम् = शुद्धज्योतिर्मय ब्रह्म पुरस्तात् = हमारे सामने उच्चरत् = उद्गत हुवा है। वह ब्रह्म, जोकि अज्ञानान्धकार से ओझल था, ज्ञान सूर्य के उदय होने पर प्रकट होगया है।

जिस प्रकार पर्वत यात्रा करने वाला पुरुष आगे और आगे बढ़ता हुवा अब इष्ट पर्वत शिखर का दर्शन करता है तो कह उठता है कि लो वह पर्वत शिखर हमारे सामने उपस्थित होगया, इसी प्रकार यह उपासक ब्रह्मलोक में पहुँचकर कर कह उठता है कि लो वह प्रत्येक देव के देवत्व की कारणभूत शुद्ध ज्योति हमारे सामने आगई।

३. दूसरी भावना

इस ज्योति का दर्शन अद्भुत है। सांसारिक किसी भी वस्तु से उसकी उपमा देनी असंभव है। हज़ारों सूर्यों की ज्योति से भी बढ़कर वह ज्योति है। वास्तव में तो वह ज्योति शब्दों का विषय है ही नहीं। सारा वैदिक साहित्य उसकी अवर्णनीयता का ही उल्लेख करता है। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्' =गुरु मौन के द्वारा ही शब्दों को न बोल कर उसका व्याख्यान करते हैं। वस्तुतः वह अनुपम ज्योति तो अनुभव ही की जा सकती है, वर्णन नहीं।

इस अद्भुत ज्योति को देखकर अद्भुत आनंद को अनुभव करता हुवा वह द्रष्टा ऐसी भावना करता है 'शतम्' =सौ के सौ वर्ष तक अर्थात् अपने पूर्ण मानव जीवन के अन्त तक पश्येम=हम इस ज्योति को देखते रहें। केवल देखना ही क्या! अपना सारा जीवन इस ज्योति की अनुकूलता में बिताने के लिये प्रयत्नशील हों। (We must try to live it)।

सारे वैदिक साहित्य में क्रिया के महत्व का प्रतिपादन है। परमेश्वर ने 'कुर्वन्नेवेह' इन शब्दों में जीव को स्पष्ट उपदेश दिया है कि क्रियाशील बनते हुवे जीने की इच्छा करना ही उसका धर्म है। यहां भी दर्शन के साथ उसे अपने जीवन में अनूदित करने का=क्रिया में परिणत करने का विधान है। हमारा जीवन यह प्रमाणित करे कि हम इस ब्रह्म का दर्शन कर रहे हैं। दर्शन का हमारी जीवन की क्रियाओं पर ऐसा परिणाम हो कि हम सब भूतों के हित में रत हों। ब्रह्मद्रष्टा वही तो होते हैं जो कि 'सर्वभूत हिते रताः' हैं।

४. उसी का सुनना, उसी का कहना

इस सर्वभूत हित में लगे हुए व्यक्ति को किसी भी प्रकार की रागद्वेष की बातें अब रुचती नहीं। उसे मित्रों व शत्रुओं के उत्थान व पतन आनंद व शोक नहीं दे पाते। उसे तो प्राणी मात्र में ब्रह्म की ही सत्ता का अनुभव होता है। उन प्राणियों की सेवा से उस ब्रह्म का भजन करता हुआ यह भक्त तो यह चाहता है कि सदा उस ब्रह्म की ही चर्चा को सुने और उसी का सदा प्रवचन करे। हमारे सुनने सुनाने का विषय अब सांसारिक रागद्वेष न होकर वह प्रभु ही है।

'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्, आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्य:
आश्चर्यवच्चैनमन्य:शृणोति श्रुत्वा प्येनं वेद न चैव कश्चित्'

इस गीता वाक्य के अनुसार उस प्रभु की बातों को सुनने सुनाने वाले विरले ही व्यक्ति होते हैं। पर जिसे एक बार इस ज्योति का दर्शन हो जाता है उसे फिर इसके अतिरिक्त सभी कुछ तुच्छ ही जचने लगता है। उसे तो अध्यात्मचर्चा ही पसन्द होती है। आत्मा ही उसकी बातों का विषय होता है। उसको तो अपने श्वास प्रश्वास में भी उसी के नाम का जप होता प्रतीत होता है

५. अदीनता

इस प्रभु के सम्पर्क में आकर उसको अपना जीवन सफल प्रतीत होता है। वह अपने को उस परमैश्वर्यवान् की गोद में पहुँचा देखकर अपनी अदीनता को अनुभव करता है। क्या ज्ञान की दृष्टि से, क्या शक्ति की दृष्टि से, क्या ऐश्वर्य की दृष्टि से सभी दृष्टियों से वह संपन्न बन गया है। प्रभु के ज्ञान के बाद कोई अन्य ज्ञातव्य वस्तु बचती ही नहीं। उसके साथ सम्पर्क होने पर अद्भुत आत्मिक बल की प्राप्ति होती है। और

उस महान् ऐश्वर्य के सामने सांसारिक ऐश्वर्य तो तुच्छ ही जचने लगते हैं। गीता के शब्दों में आनंद की बाढ़ आजाने पर संसार सुख के छोटे २ कूएं व्यर्थ ही हो जाते हैं।

इस प्रकार उस प्रभु द्रष्टा को अपने ऐश्वर्य का अनुभव होता है। वह देखता है कि लोहे के गोले को अग्नि में पड़ जाने से जैसे अग्नि का तेज प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार उसे भी प्रभु की गोद में पहुँच जाने से प्रभु का ऐश्वर्य प्राप्त हो गया है। उसे पा कर वह अपने को ऐश्वर्यवान समझता है, और कहता है कि मैं सारे जीवन में इसी प्रकार ऐश्वर्य वाला बना रहूँ। इसे खोकर कभी दीन न हो जाऊं।

उपनिषद् कहती है कि इस आत्मतत्व को पानेवाले को सभी मनोरथ प्राप्त होजाते हैं। उसे किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं रह जाती। वह आप्त-काम सचमुच अदीन बन गया है और आजीवन अदीन ही रहना चाहता है।

६. दीर्घ जीवन

इस प्रकार उस पवित्र जीवन वाले प्रभु भक्त की इन्द्रिय शक्तियां भी जीर्ण न हो कर ठीक बनी रहती हैं और वह जीर्णता बुढ़ापे का शिकार नहीं होता। १०० वर्ष तो क्या, उससे भी अधिक वर्षों तक स्वस्थ इन्द्रिय शक्तियों वाला होकर वह अपने लोकसंग्रह के यज्ञ को चलाये चलता हैं। "ऋषयो दीर्घ संध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' ऋषियों ने ध्यान द्वारा उस आत्मतत्व का दर्शन कर दीर्घायुष्य को प्राप्त किया।

वानप्रस्थ की साधना यहां समाप्त होती है। आत्मसाक्षात्कार को करने वाला यह वानप्रस्थी आज ब्रह्माश्रमी बनता है। अब उसका जीवन अपने लिये न होकर औरों के लिये है। उसके

माध्यम से प्रभु की शक्ति काम करती है। वह प्रभु के तेज का ध्यान करते हुए उसके प्रति नतमस्तक हो अपने कार्य में लगा रहता है।

'किस प्रकार वह प्रतिक्षण उस प्रभु से प्रकाश की याचना करता है' यह अगले मन्त्र में देखिये—

गायत्री मन्त्र

एक महान लक्ष्य

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो नः प्रचोदयात्

ओ३म्—उस प्रभु के संरक्षण में, (हम) भूः-स्वस्थ बनें। भुवः—ज्ञान को प्राप्त करें, तथा स्वः आत्म संयमी हों। तत् सवितुः—सर्वव्यापक (और अतएव हृदय में भी वर्तमान होकर निरन्तर) प्रेरणा देने वाले, देवस्य—दिव्यगुण मय उस प्रभु के वरेण्यं—वरणीय, भर्गः—तेज का, धीमहि चिन्तन करें व धारण करें। यः—जो तेज (हमारा लक्ष्य बन कर) नः—हमारे, धियः—ज्ञानों व कार्यों को, प्रचोदयात्—उत्तम प्रेरणा देता रहे।

१ सर्वोच्च धर्म

मनुष्य व पशुओं में यही महान् भेद है कि पशुओं की क्रियायें वासना(instinct)से होती रहती हैं, पर मनुष्य किसी लक्ष्य से प्रेरित होकर बुद्धि पूर्वक सब क्रियाओं को करता है।

इस गायत्री मन्त्र में मनुष्य का सर्वमहान् लक्ष्य यही प्रतिपादित हुआ है कि वह स्वस्थ बने, ज्ञान-प्रधान हो, तथा इन्द्रियों व मन का शासक हो।

२ आदर्श तेजस्विता

इस महान् लक्ष्य को अपने जीवन में लाने के लिये वह उस प्रभु के श्रेष्ठ तेज को अपना आदर्श बनाये। उसी का ध्यान करे, उसी को धारण करने का संकल्प करे। तेजस्विता के कारण जैसे वह प्रभु द्वेषशून्य हैं, यह भी वैसा ही द्वेष की भावना से दूर होने का ध्यान करें।

'अपने सब कार्यों को द्वेषशून्य होकर करना, कठिन अवश्य है, परन्तु परमेश्वर की तेजस्विता का ध्यान हमारी बुद्धियों व कर्मों को उत्तम प्रेरणा देने वाला होगा।

४ विश्वामित्र

इस महान् लक्ष्य की ओर चलने वाला यह प्रभु का उपासक किसी से भी द्वेष नहीं करता। द्वेष की भावना निर्बलता, अज्ञान तथा आत्मसंयम के अभाव से पैदा होती है। यह शक्तिशाली (भूः) ज्ञानी (भुवः) संयमी (स्वः) पुरुष एक दम द्वेष से शून्य है। सभी के साथ स्नेह करने वाला यह इस मन्त्र का ऋषि "विश्वामित्र" है। सब प्राणियों में उस प्रभु के वास को अनुभव कर सब का भला करना ही उसका भक्त बनना है।

इस भक्त के ही मुख से पूर्ण नम्रता के साथ निम्न निवेदन निकलता है—

सूचना:—गायत्री मन्त्र की विस्तृत व्याख्या अलग पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रही है, अतः यहां उसको नहीं दिया गया है।

शांति और आनन्द (Peace and Pleasure)

नमः शंभवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

शंभवाय—शान्ति के स्रोत उस प्रभु के लिये, च— तथा
मयोभवाय—आनन्द के स्रोत उस के प्रभु लिये, नमः—नमस्कार हो शंकराय—सब के लिये शान्ति को देने वाले, च—तथा
मयस्कराय—आनन्द को प्राप्त कराने वाले उस प्रभु के लिये, नमः—मेरा नमस्कार हो । च—और
शिवाय—ज्ञान रूप उस प्रभु के लिये, च—तथा
शिवतराय —ज्ञान के द्वारा द्वेष दुखादि से तारने वाले उस प्रभु के लिये, नमः—नमस्कार हो ।

१ स्रोत (The Grand Source)

'शम्' शब्द का अर्थ शान्ति है। यह इसलिये कि यह द्वेष के अभाव तथा वासनाओं के विनाश से उत्पन्न होती है। शम् धातु का अर्थ (to put an end, to destroy, to kill) है। द्वेषादि के विनाश से जो मन का नैर्मल्य होता है वही शान्ति को उत्पन्न करता है। और चूंकि पूर्णरूप से द्वेषशून्य प्रभु ही हैं, इसलिये शान्ति की पूर्णता भी वहीं है।

'मय' शब्द (delight) आनन्द का वाचक है। यह 'मय्'

(to go, move गति) धातु से बना है। गति क्रिया में ही आनन्द है। ज्ञान से पवित्र हुई २ क्रिया शुद्ध आनन्द का कारण होती है। परमेश्वर में यह क्रिया स्वाभाविक है, सो उस का आनन्द भी स्वाभाविक है। 'स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च'।

'भव' शब्द 'भवत्यस्मात्' इस व्युत्पत्ति में 'भू' से अप प्रत्यय लगकर बना है। इसका अर्थ है उत्पत्तिस्थान, स्रोत। वह प्रभु शान्ति और आनन्द का स्रोत है। यह उपासक भी गायत्री मन्त्र के उच्चारण के साथ 'विश्वामित्र' (सभी का मित्र, द्वेषशून्य बनने का यत्न कर 'शान्ति के स्रोत' उस प्रभु के चरणों में नतमस्तक हो ा है। तथा अपने लिये आवश्यकता न होने पर भी प्राणिमात्र के हित के लिये निरन्तर क्रियाशील होकर यह 'सर्व-भूत-हित' में आनन्द का अनुभव करता है और उस प्रभु को नमस्कार करता है जोकि निरन्तर जीव रूप प्रजाओं के हित के लिये ही सृष्टि निर्माण आदि कार्य में लगा है। वह स्वयं तो पूर्णरूप से आप्त काम है।

२. ईश स्वभाव

'कर' शब्द कृ धातु से ताच्छील्य = स्वभाव = Nature अर्थ में 'ट' प्रत्यय से बनता है। 'वह प्रभु शान्ति व आनन्द का स्रोत हो, इतनी ही बात नहीं, औरों को भी शांति और आनन्द प्राप्त कराना उसका स्वभाव ही है। यह प्रभु भक्त भी शांति और आनन्द का स्रोत बनकर, उसे प्रजा मात्र में प्रसरित करने का प्रयत्न करता है। अपने जीवन का लक्ष्य इसी बात को बना कर वह मानव-ऋण से उऋण होना चाहता है। परमेश्वर को 'शंकर, और 'मयस्कर, शब्दों से याद करके उसके प्रति झुकता है, और

चाहता है कि वह भी प्रभु के समान 'शंकर' व 'मयस्कर' बन पाये ।

३. ज्ञान रूपता

'उस प्रभु में सब गुणों का आदर्श (Ideal) रूप में होना क्यों हो सका है ?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि चूंकि वह 'शिव' है । 'शिव, शब्द "श्यति पापम्" (पाप को नष्ट करता है) इस व्युत्पत्ति से (शो+वन्) ज्ञान का वाचक है । परमेश्वर ज्ञान रूप है, इसीलिये वह द्वेषादि भावनाओं से भी पूर्णरूप से रहित है । यह प्रभुभक्त भी इसी दिशा में बढ़ने का प्रयत्न करता हुवा ज्ञान रूप उस प्रभु को नमस्कार करता है ।

४. ज्ञान द्वारा तैरना

वह प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में इस ज्ञान को देकर जीवों के दुःख सागर से पार होने के साधनों का उपदेश देता है । सृष्टि में भी सदा हृदयस्थ रूप से उत्तम ज्ञान की प्रेरणा देता हुवा वह हमें दुःखों से तरा रहा है । यह उपासक हृदयस्थ उस प्रभु को इसी 'शिव+तर' (ज्ञान से तैराने वाले) रूप में देखता हुवा उसके प्रति विनत होता है और स्वयं भी सदुपदेश से सत्य ज्ञान का प्रसार करता हुवा लोकों में दुःख को दूर करने का व्रत धारण करता है । और इस प्रकार यह सन्यासी राष्ट्र में परम=सर्वोच्च स्थान में स्थित होता है, और प्रजा की ज्ञान-प्रसार द्वारा रक्षा करना ही इस का काम होता है । आज यह इस मन्त्र का ऋषि 'परमेष्ठी-प्रजा पति' बना है । सर्वोच्च स्थान में स्थित होते हुए भी यह अधिक से अधिक विनीत है । प्रतिक्षण उस प्रभु के प्रति प्रणत है । संक्षेप में यह इसी लिये सब से ऊंचा

बना

हों, ह

में श

आधि

बना है, चूंकि सब से नीचा (विनीत) हुवा है।

—:o:—

त्रिविध शांति

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रभु के संरक्षण में हमारे शरीर मन व बुद्धि शान्त (स्वस्थ) हों, हमारा समाज शांत (परस्पर कलह शून्य) हो तथा हमारे राष्ट्र में शांति (प्राकृतिक उपद्रवों का अभाव) हो। अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक शांति हमें उपलब्ध हो।

स्वाध्याय-ग्रन्थ-माला

—:o:—

इस माला का द्वितीय पुष्प आप के समक्ष है। प्रथम पुष्प "प्रार्थना मन्त्र" के रूप में प्रकाशित हो चुका है। इसके पश्चात् १–अग्नि होत्र, २–स्वस्ति वाचन, ३–शान्ति प्रकरण आदि के मन्त्रों की व्याख्या की पुस्तकें शीघ्र प्रकाशित होंगी। तत्पश्चात् वेद के अन्य प्रकरणों के व्याख्या-सहित ग्रन्थ प्रकाशित होंगे। अतः आप सब सज्जन शीघ्र ही इस ग्रन्थ माला के

स्थायी ग्राहक बनिये।

जो भाई अथवा बहिन २) रू० भेजकर इस ग्रन्थ-माला के स्थायी ग्राहक बन जायेंगे उन्हें माला प्रकाशित सभी पुस्तकें पौने मूल्य में मिलती

स

लड्ड

मुद्रक:—
आर्यावर्त प्रेस,
लड्डू घाटी, पहाड़ गंज, देहली ।